सुन्दरदास

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

सुन्दरदास

रमेशचन्द्र मिश्र

साहित्य अकादेमी

SundarDas : Monograph in Hindi by Ramesh Chandra Mıshra on Medieval Hindi Saınt Poet Sahitya Akademi, New Delhı (2001) Rs. 25 00

प्रथम संस्करण · 2001 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
343-345, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर-560 001

ISBN 81-260-1179-3

मूल्य : 25 रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

एक

जीवन-परिचय

सुन्दरदास—सन्त दादूदयाल के बावन शिष्यों की परम्परा में छोटे और बड़े ये दो सुन्दरदास नाम उल्लेखनीय हैं। इनमे सुन्दरदास छोटे हमारे विनिबन्ध लेखन के चरित नायक है। छोटे सुन्दरदास ही साहित्य जगत में ख्याति प्राप्त हैं। इनके विषय मे मान्यता है कि ये बालब्रह्मचारी, स्वाभिमानी, विनोदप्रिय, मृदुभाषी, आशु कवि, स्वभाव से सरल होते हुए भी उच्चकोटि के विचारक, दार्शनिक एव सन्त कवि थे। *भक्तमाल* के रचयिता राघवदास ने इन्हे दादू-शिष्य मण्डली में दिनकर के समान ओजस्वी बताया है—

दादू दीनदयाल के चेले दोइ पचास।
केई उडगण केई इन्दु, दिनकर सुन्दरदास ॥

वास्तव में प्रतिभा के धनी सुन्दरदास काव्य गुणों से सम्पन्न, तत्वज्ञान मर्मज्ञ और अनेक भाषाओं के पण्डित-कवि के रूप में जाने जाते हैं। आयु मे दादू-शिष्यों में सबसे छोटे होते हुए भी, गुरु-भक्ति-विचार में, सबसे आगे होने के कारण ये दादूजी के 52 शिष्यों में, प्रमुख ही नहीं प्रथम कहे जा सकते हैं। इसीलिए शायद चतुरदास (= *चत्रदास*) ने इनके विषय में लिखा है—

जगत भगत विख्यात चातुरजन अैसें कही।
सब कवियन में सिरताज, दादू सिष सुन्दर मही ॥

जन्म-मरण की तिथियाँ—अन्य अनेक सन्त-भक्त रचनाकारों की तरह सुन्दरदास का जन्म, वंश-गोत्र, बचपन, जीवन की अन्य घटनाएँ तथा मृत्यु-तिथि आदि द्विविधा अथवा अनिश्चिय की छाया में नहीं हैं। इसका एक कारण यह रहा कि जीवन अथवा साहित्य-रचना के अनेक पक्ष या तो स्वयं कवि द्वारा उल्लिखित हैं अथवा अन्य स्रोतों से भली प्रकार प्रमाणित होते हैं। इसीलिए जन्म-तिथि-वर्ष एवं मृत्यु-तिथि-वर्ष, परम्परा में प्रायः सुनिश्चित हैं। सुनिश्चित होने के भी दो आधार-स्रोत हैं—एक तो सुन्दरदास के ही समकालीन माधवदास रचित *दादू जन्मलीला ग्रन्थ* और दूसरा *सन्त गुण सागर सिद्धान्त ग्रन्थ*। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि सुन्दरदास की जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला नवमी अर्थात् रामनवमी,

सम्वत् 1653 (= सन् 1596 ई.) तथा मृत्यु-तिथि कार्तिक शुक्ला अष्टमी, सम्वत् 1746 (= सन् 1689 ई.) है। इन वर्ष-तिथियो पर न तो दादू-पन्थ परम्परा में और न साहित्य के इतिहास-समीक्षकों अथवा इतिहासकारों ने ही, सन्देह-शंका की है या विवाद का विषय बनाया है। प्रमाण के रूप में सुन्दर-वाणी रचनाओ मे, कई रचनाओ के वर्ष-सम्वत् दिए होने के कारण, उक्त तिथियों की सम्यक् पुष्टि होती है। देह-त्याग के वर्ष-सम्बन्ध मे तो सुन्दर कृत साखी ही मिलती है। सुन्दर ने अपना अन्त-समय समझकर यह साखी कही थी। सुन्दर-रचनाओं में *अन्त समय की साखी* उपशीर्षक से यह साखी संकलित है। देखिए—

सात बरस सौ में घटै, इतने दिन का देह।
सुन्दर न्यारौ आतमा, देह षेह की षेह ॥

अर्थात् सौ में से सात वर्ष कम, अर्थात् 93 वर्ष की पूरी आयु पाकर, सुन्दरदास ने अपना चोला छोड़ था। चोला-त्याग के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि इनको जब अपने गुरु भाई एवं स्नेही-मित्र रज्जब अली से मिलने की प्रबल इच्छा हुई थी, तब वर्ष-सम्वत् 1745 का अन्त अथवा सम्वत् 1746 का प्रारम्भ था। उस वृद्धावस्था मे भी ये घूमते-ठहरते हुए, रज्जब की साधना-स्थली सांगानेर पहुँच गए थे। वहॉ पहुॅच कर इन्हें ज्ञात हुआ कि गुरुभाई रज्जब अली महाप्रस्थान कर चुके हैं। यह सुनते ही इन्हें गहरा सदमा लगा और बीमार पड गए। स्वभाव से संकल्पी सुन्दरदास ने औषधि-उपचार नहीं किया। बुढ़ापे में रुग्णता बढ़ती गई और अन्ततः कार्तिक शुक्ला अष्टमी, सम्वत् 1746 को इन्होने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। सांगानेर कस्बे मे ही सन्त रज्जब जी की छतरी के पास, इनका संस्कार किया गया था, जहाँ आज भी इनकी स्मृति में छतरी बनी हुई है। उसी पर इनकी मृत्यु-तिथि की प्रस्तर-पट्टिका लगी है, जिसमें यह चौपाई खुदी है—

सवत् सत्रासै छीयाला। कार्तिक सुदि अष्टमी उजाला।
तीजे पहर बिरसपतिवार। सुंदर मिलिया सुंदर सार ॥

वंश-परिवार—सुन्दरदास का वंश-परिवार भी अनेक ग्रन्थ-रचनाओं के उल्लेखों के आधार पर प्रमाणित है। आपके पिता का नाम चोखा अथवा चोखाराम था, जो शायद बालक सुन्दर के, दादू जी को समर्पित होते ही, आदरभाव के कारण परमानन्द नाम से लोक-विख्यात हुआ। जनगोपाल रचित *दादू जन्मलीला* तथा वासुदेव कृत *दादू चरित चन्द्रिका* ग्रन्थों में इनके पिता का नाम चोखा ही बताया गया है। किन्तु स्वामी गंगाराम ने अपने उल्लेख में सुन्दर के पिता का नाम परमानन्द बताया है। इन्ही परिचयी-रचनाओं में सुन्दर की माता का सती नाम उल्लिखित है। इनकी माता आमेर कस्बे के सोकिया अथवा सॉकिया गोत्र के खण्डेलवाल वैश्य कुल की पुत्री थी। सच तो यह हे कि समूचे उत्तर भारत मे खण्डेलवाल एवं अग्रवाल

वंशकुल, बड़े समृद्ध वश-कुल माने जाते है। खण्डेलवालों की निकासी खण्डेला नगर से बताई गई है। मूलत· खण्डेला नगर-भूमि से जुडे होने के कारण ये खण्डेलवाल कहलाए हैं। खण्डेलवालों की दो परम्पराएँ रही हैं—1. वैष्णव परम्परा तथा 2. जैन परम्परा। इनके भी 84 कुल गोत्र माने गए हैं। उन्हीं मे से एक है बूसर गोत्र। इसी बूसर गोत्र-कुल मे हमारे सन्त कवि सुन्दरदास का जन्म हुआ था। बूसर को कोई-कोई भूसुर अथवा बोहरा गोत्र से विकसित हुआ मानते हैं। वैसे भी, खण्डेलवाल एव बूसर वश-गोत्र अथवा उनकी निकासी-स्थान के सम्बन्ध में कई और विचार-तर्क भी मिलते हैं। पर, बूसर-बनिया वैश्य कुलोत्पन्न होने अथवा कोठीवाल बनिया कहलाने के उल्लेख, स्वयं सुन्दरदास जी ने अपनी वाणी मे किए है। देखिए—

बूसर कहै तू सुन हो दूसर, बाद बिबाद न करना।
अथवा
सम्रथ की कोठी आये। तब कोठीवाल कहाये॥
बनिजै हरि नांव निवासा। यह बनिया सुन्दरदासा॥
× × ×
संतनि लीयो हरि हीरा। तिन स्यौं कीयौ हम सीरा॥
दुख दालिद्र निकट न आवै। यौं सुन्दर बनिया गावै॥

—*सुं. पदा.*, पद. 123-24

जाति-वंशगत अर्थ में बूसर शब्द का प्रयोग स्वयं सुन्दरदास ने ही नहीं किया, अपितु उनके समकालीन एवं परवर्ती रचनाकारो ने भी इसी अर्थ मे *बूसर* शब्द का प्रयोग किया है। भक्तमाल के रचनाकार राघवदास ने लिखा है—*दादू के सुन्दर बूसर परम प्रधान है।* इसी प्रकार चतुरदास ने भी लिखा है—*सुन्दरदास बूसर सु फतेहपुर गाजहीं*।

जन्म-स्थान—सुन्दरदास का जन्म-स्थान निर्विवाद रूप से राजस्थान का दौसा नगर है। *दौसा* (द्यौसा) नाम का यह कस्बा, पुराने जयपुर राज्य की राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका है। राजस्थान के विशेषतः जयपुर राज्य के इतिहास को पढने से ज्ञात होता है कि दौसा नगर को, महाराज सोढदेव जी के पुत्र दूलहराम जी ने सम्वत् 1023 वि. मे, विजय-प्राप्त करके, अपने अधिकार मे लिया था (दे. —राजस्थान का इतिहास, बारहठ रामनाथ जी रत्नू, पृ. 87-88)। इधर, दौसा के भूगोल के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह पुराना कस्बा है। अब भी इसका खँड़हरनुमा क़िला एक पहाडी पर देखने को मिलता है। यह नगर, गुलाबी शहर जयपुर से कुल 30-35 मील दूर, पूर्व की ओर बसा हुआ है। यहाँ रेलवे स्टेशन भी है। यहीं शिशु सुन्दर का जन्म हुआ था। वह गली-मुहल्ला आज भी बूसरों वाली जायगाँ नाम से प्रसिद्ध है। अब उस स्थान के गली-चबूतरे तो हैं पर, वहाँ सुन्दर का

कोई नामोनिशा देखने को नही मिलता। आज तक, सुन्दर के लाखो कृतज्ञ अनुयायी अथवा जाति-उत्कर्ष के लोग, उनकी स्मृति में यह काम भी नहीं कर पाए हैं। वैसे, दौसा में अब सुन्दरदास के वंश-गोत्र का भी अता-पता नही मिलता। हॉ, रचनाओ में सुन्दर के दौसा-जन्म सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते है। स्वयं सुन्दरदास की वाणी मे इसका उल्लेख है—

दादू जी जब द्योसहिं आये। बालपने हम दरसन पाये ॥—गुरु सम्प्रदाय,

राघवदास ने *भक्तमाल* में लिखा है—

दिवसा (= द्यौसा) है नग्र, चोषो बूसर है साहूकार,
सुन्दर जनम लियौ ताही घर आइकै।
—छन्द 421

सुन्दर के जन्म के सम्बन्ध में एक लोक-विश्वास प्रसूत जनश्रुति आज भी प्रचलित बनी हुई है। कहा जाता है कि दादू जी के प्रमुख शिष्यों में, गुजरात-क्षेत्र के एक भक्म महात्मा जग्गाजी थे। वे भक्ति की ऊँची दशा में तन्मय रहकर, घूमते-फिरते रहते थे। वे भिक्षाटन करते हुए, अपनी वाणी से लोगों को चेताते हुए, घूमते-फिरते रहना ही अपने जीवन का साध्य समझते थे। एक बार की बात है कि वे आमेर-क्षेत्र में घूम रहे थे। उसी समय उनको अपना आड़बन्द (= *लंगोटी*) बुनवाने के लिए सूत की ज़रूरत हुई और वे भिक्षा मॉगते हुए आड़बन्द के लिए सूत मॉगने लगे—*दे माई सूत। ले माई पूत*। उनकी आवाज़ सुनकर सौंक्या परिवार की सती नामक कुमारी कन्या, काते हुए सूत की कुकड़ीं (= पिन्दियॉ, अड़ियाँ) हाथों में भरकर ले आई और सहज भाव से बोली—*लो बाबा जी सूत। दो बाबाजी पूत*। तब जग्गाजी ने सूत तो ले लिया और वहाँ से चलकर सीधे अपने गुरु महाराज दादूजी के निकट आकर बोले—महाराज, आज तो ऐसा-ऐसा हो गया है। कहते हैं कि तब दादूजी ने उन्हें बताया कि जिसको तुम पुत्र-प्राप्ति का वर देकर आए हो, उसके भाग में तो पुत्र है ही नहीं। अब तुम्हें ही उसके घर पुत्र बनकर जाना होगा। जग्गाजी ने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य करते हुए विनयपूर्वक यह कहा कि मैं पुत्र होकर तो जाऊँगा। पर, आपकी ही शरण में लौटकर आना चाहता हूँ। दादूजी ने अच्छा, कहकर प्रसंग को समाप्त कर दिया था। कहा जाता है कि एक अन्तराल के बाद सती का विवाह दौसा में बूसर गोत्रीय चोखाराम से हुआ और जग्गाजी ही, अपने संकल्पानुसार सती-चोखा परिवार में सुन्दर-पुत्र के रूप में जन्मे। और तब जनविश्वास में यह प्रचारित हुआ कि 'चोखा के घर जग्गा आयो'। इस जनश्रुति के भाव को राघवदास ने अपने भक्तमाल के एक छन्द में इस प्रकार भाषाबद्ध किया है—

दिवसा है नग्र, चोषा बूसर है साहूकार,
सुन्दर जनम लियौ ताही घर आइकै।

पुत्र की है चाहि पति दई है जनाइ त्रिया,
कह्यौ समझाइ स्वामी कहौ सुखदाइ कै ॥
स्वामी सुख कही सुत जनमैगो सही पै,
बैराग लेगौ वही, घर रहै नहिं माइ कै।
एकादस बरस में त्यागौ घर माल सब,
बेदान्त पुराण सुने बानारसि जाइ कै ॥

नामकरण और शिष्यत्व—सुन्दरदास, दादू जी के सबसे छोटे एवं प्रिय शिष्य थे। आयु मे सबसे छोटे होने के कारण इन्हें दादू-शिष्य-परम्परा मे सुन्दरदास छोटे नाम से प्रसिद्धि मिली है। दादू-शिष्य मण्डली में एक सुन्दरदास बड़े भी हुए हैं, जो अस्त्र-शस्त्र धारण करने के पक्षधर होने के कारण, नागा-जमात में शामिल हो गए थे। उधर, बालक सुन्दर जब छह-सात वर्ष के रहे होंगे, उसी समय दादूजी सम्वत् 1658 वि. की ग्रीष्म ऋतु में, दूसरी बार दौसा पधारे थे, तभी सुन्दर के माता-पिता ने श्रद्धावश सुन्दर को दादूजी के चरणो में अर्पित कर दिया था। उस समय दादूजी ने बालक के शीश पर हाथ रखते हुए कहा था कि बालक बहुत 'सुन्दर' *है* अथवा सुन्दर तू आ गया। दादूजी के मुख से निकला वह '*सुन्दर*' शब्द, बालक की स्मृति में समाहित होने के साथ ही, उपस्थित जनसमुदाय में वह '*सुन्दर*' शब्द गूँज गया। तब दौसा में, उस सरोवर के तट पर दादूजी जितने भी दिन रहे, सुन्दर के माता-पिता, बालक को लेकर नित्यप्रति उनके सत्संगदर्शन के लिए जाते रहे थे। दादूजी के वहाँ से जाने के बाद, बालक सुन्दर, दौसा में ही रह रहे जगजीवणदास जी से, दादूजी एवं उनकी वाणी-कथा सुनने जाता रहा। बचपन की उक्त घटना-स्मृति को सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं मे भी शब्दबद्ध किया है। इस प्रसंग का एक दोहा उल्लिखित है—

सुन्दर सद्गुरु है सही, सुन्दर सिक्षा दीन्ह।
सुन्दर बचन सुनाइ कैं, सुन्दर सुन्दर कीन्ह ॥

यही नहीं, अपनी रचनाओं के प्रत्येक छन्द में रचनाकार सुन्दरदास ने, 'सुन्दर' शब्द की छाप लगाई है। सुन्दर की सुन्दरता के सम्बन्ध में राघवदास रचित यह पंक्ति रेखांकित की जा सकती है—सुन्दर जै हैं आपुहि सुन्दर, तिन कौ कहा सिंगार।

यही नहीं, प्रमाण रूप में कहा जा सकता है कि सुन्दरदास ने अपनी वाणी में, गुरु दादू को सर्वत्र सद्गुरु पद पर प्रतिष्ठित करके ही देखा है। गुरु के प्रसंग में जहॉ भी अवसर आया है, उन्होंने दादूजी का स्मरण बड़ी निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ किया है। गुरु के प्रथम-दर्शन को सुन्दरदास ने इन शब्दों मे बाँधा है—

सुन्दरदास गुरु मुख जाना। खिरै नहीं तासौं मन माना ॥
दादूजी जब द्यौसहि आये। बालपने हम दरसन पाये ॥
तिन के चरननि नायौ माथा। उनि दीयौ मेरै सिर हाथा ॥

दादूजी के प्रति उनका हार्दिक गुरु-भाव, उनकी और भी कई रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। देखिए–

सुन्दर सतगुरु आप तैं, किया अनुग्रह आइ।
मोह निसा मैं सोवते, हम को लिया जगाइ॥

स्वामी दादू गुरु है मेरौ। सुन्दरदास शिष्य तिनि केरौ॥
दादू का चेला चेतनि भेला, सुन्दर मारग बूझैला॥

–*गुरुदया षटपदी*, छन्द 1, 7

नमो देव दादू, नमो देव, दादू। –*गुरुमहिमा स्तोत्र अष्टक,*

दादूदयाल प्रसिद्ध सद्गुरु, ताहि मोर प्रणाम है। –*गुरु उपदेश,*

दादू सद्गुरु बन्दिये, सो मेरे सिरमौर। –*सुं. साखी ग्रन्थ, गुरु,*

दादू दयाल कौ हूं नित चेरौ। –*सुं. सवैया ग्रन्थ,* गुरु,

बचपन में गुरु-साक्षात्कार के बाद बालक सुन्दर का सोया हुआ व्यक्तित्व जागृत होने लगा था। इसका प्रमाण एक दूसरी घटना से भी लगाया जाता है। यह घटना दादूजी के चोला-त्यागने के दो-तीन वर्ष बाद सम्वत् 1663 वि. की बताई जाती है। तब सुन्दरदास, आयु में कुल नौ-दस वर्ष के रहे होंगे। एक वार्षिकोत्सव मे बालक सुन्दर, अपने पिता चोखाजी एवं बड़े गुरुभाई जगजीवण *जी* के साथ, दौसा से नरायणा धाम पहुँचे हुए थे। तब तक दादूजी की गद्दी पर, दादूजी के ही शिष्य-पुत्र गरीबदासजी विराजमान हो चुके थे। किसी अवसर विशेष पर जब बालक सुन्दर, गुरुभाई जगजीवणदास एवं रज्जब अली के निकट बैठे हुए थे, तभी प्रसंगवश गरीबदासजी ने, सुन्दर को एक अबोध बालक समझते हुए, उपहास वृत्ति में नासमझ मानकर, यह कह दिया कि यह बालक अभी क्या कर सकता है, आदि-आदि। तब वय से बालक होते हुए भी, उस जाग्रत चेतना के ओजस्वी स्वभाव ने, उस जनसमुदाय में अपना अपमान महसूस किया और उस अपमान को न सह सकने के कारण, उसका आशु कविरूप जागृत हो उठा और वहीं खड़े होकर निर्भीकतापूर्वक बालक बोल उठा। वह बोल ही एक छन्द में बदल गया। छन्द इस प्रकार है–

क्या दुनिया असतूत करेगी, क्या दुनियां के रूसे से।
साहब सेती रहो सुरखरूं, आतम बकसे ऊसे से॥
क्या किरपन मूँजी की माया, नाम न होय नपूंसे से।
कूड़ा बचन जिन्होने भाषा, बिल्ली मरै न मूंसे से॥
जन सुन्दर अलमस्त दिवाना, शब्द सुनाया धूंसे से।
मानो तो मरजाद रहेगी, नहि मानो तो घूंसे से॥

उस समय, बालक-स्मृति से निसृत, रचना बना यह छन्द सुनकर सभा मे सन्नाटा छा गया होगा। उस समय गरीबदासजी के पक्ष के एव निर्मल चेतना के लोग भी बालक के पक्षधर अवश्य हुए होंगे। विवाद बढ़ते देखकर जगजीवणजी एवं रज्जब जी, सुन्दर को साथ लेकर सभा से उठकर चले आए थे। बाद मे दोनों ओर से, गुरु-आज्ञा मानकर सन्तुलन कर दिया गया। इधर, बालक सुन्दर की निर्भयता एवं प्रतिभा को समझते हुए अभिभावक बने जगजीवणजी को, सुन्दरदास की शिक्षा-दीक्षा का विशेष ख़्याल रहने लगा। वैसे भी, दादूजी के चोला-त्यागने से पूर्व, उन्होंने जगजीवण जी से कहा था कि बालक सुन्दर का ध्यान रखना। उक्त घटना का सुन्दर की चेतना पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होने आजीवन, अपनी समूची वाणी में, गरीबदासजी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा, प्रशसा करने की बात तो दूर रही।

शिक्षा-दीक्षा—बालक सुन्दर को सन्त दादूदयाल का सान्निध्य एवं उनसे प्रत्यक्ष शिक्षा-उपदेश पाने का समय बहुत कम मिल पाया था। कारण स्पष्ट है कि सम्वत् 1660 वि. में ही दादूजी ने नरेणा-परिसर के जगलों में देह-त्याग कर दी थी। अपना अन्तिम समय समझकर दादूजी ने वय मे बड़े एवं प्रिय शिष्य जगजीवणदास को बालक सुन्दर का ध्यान रखने एवं आगे की शिक्षा-दीक्षा की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। उसी दायित्वबोध से प्रेरित होकर जगजीवणजी सम्वत् 1663-64 में रज्जब अली एवं अन्य गुरुभाइयो के साथ, किशोर होते हुए सुन्दरदास को लेकर, विद्याध्ययन के उद्देश्य से काशी चले गए थे। तब सुन्दर की उम्र 11-12 वर्ष की रही होगी। स्वामी माधवदासजी ने उनकी उम्र द्वादश वर्ष लिखी है। काशी मे उनका निवास सम्वत् 1664 से 1682 तक सुनिश्चित माना जाता है। वहाँ रहकर उन्होने विधिवत् संस्कृत, व्याकरण, दर्शन एवं काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। काशी में वे गंगाघाट पर बने दादू-मठ, जो आज भी विद्यमान है, में ही ठहरे थे। यह भी मान्यता है कि मठ के निकट ये अपने गुरु-भाइयों सहित गुफ़ा बनाकर रहे थे। वहाँ रहते हुए इन्होंने सदाव्रत, छात्रवृत्ति अथवा भिक्षाटन पर निर्भर रहकर विद्याध्ययन किया था। यहाँ यह बताना भी उल्लेखनीय है कि काशी के उसी असीघाट पर, जहाँ सुन्दरदास रहते थे, रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास भी रहा करते थे। सुन्दर-वाणी ग्रन्थो को पढ़कर ऐसा लगना स्वाभाविक है कि वहाँ रहते हुए युवक सुन्दरदास ने उनके प्रवचन सुने होंगे और सत्सग भी किया होगा। सुन्दरदास के ग्रन्थों को पढ़कर यह भी लगता है कि छन्द-विद्या में वे तुलसी-रचना से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने वेदान्त, सांख्य, योग, षट्दर्शन, ब्रह्मसूत्र, गीता, शाकरभाष्य, योगवासिष्ठ एवं उपनिषदादि अनेक ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही व्याकरण, काव्यशास्त्र छन्द-अलंकारशास्त्र एवं छन्द-रचना का विधिवत् अभ्यास भी किया होगा। यही नहीं, भाषा-काव्यों के समस्त स्रोतों, जैसे *हठयोगप्रदीपिका, गोरखबानी* तथा कबीरादि सन्तों

की वाणी-पारायण के साथ ही, दादू-वाणी का निष्ठापूर्वक अध्ययन-मनन किया होगा। सुन्दर-वाणी में उक्त स्रोतो के प्रभाव को भली प्रकार देख या ऑका जा सकता है।

काशी मे रहते हुए सुन्दरदास के अध्ययन काल की एक-दो घटनाऍ आज भी लोक-प्रचलित हैं। सन्त-हृदय, निर्मल हृदय होने के कारण, मृदुभाषी एवं शान्त-स्वभाव का होता है। किन्तु निर्भीकता, उनके स्वभाव का अंग बन जाती है। वे अपने शील-आचरण से जनसमाज में व्याप्त रूढ़ियों, भ्रान्तियो का निवारण करते हुए, पाखण्ड भरे जीवन-आचरण को त्यागने की निरन्तर प्रेरणा देते-रहते हैं। ऐसी अनेक घटनाऍ सुन्दरदास के जीवन में हुई हैं। वहॉ रहते हुए एक समय की बात है कि सुन्दरजी काशी के दशाश्वमेध घाट पर स्नान करते हुए गगाजल से मुख-प्रक्षालन कर रहे थे। तभी उनके मुख से निकले कुल्ला-जल की कुछ छींटें एक कर्मकाण्डी पण्डित के शरीर पर पड़ गई। इस पर वह डाँटते हुए बोला—अरे विद्यार्थी, तू जूठे छींटे मेरी तरफ़ क्यों डाल रहा है? ध्यान से कुल्ला किया कर। इस पर सुन्दर ने मुस्कराते हुए पूछा—अब आप पवित्र कैसे हों? इस पर पण्डित बोला—धोने से। तब सुन्दर ने बड़ी तत्परता से सौ बार अपना मुख धो डाला। और फिर एक कुल्ला इस प्रकार किया कि उस पण्डित पर फिर छींटे चले गए। पण्डित फिर बोला—तूने फिर जूठे छींटे मेरी ओर डाले? इस पर सुन्दर ने कहा—पण्डितजी, आपने ही तो कहा था कि धोने से शुद्धि होती है। मैंने अपना मुख सौ बार, अभी आपके सामने धो डाला है। अब यह जूठा कैसे रह गया? इस पर पण्डित नर्म होते हुए बोला—अरे भाई, ऐसा विचार तो यूँ ही चला रहा है। लगता है कि तू कोई बड़ा सन्त होनेवाला है। और तब मुस्कराते हुए दोनों अपने-अपने गन्तव्यों की ओर चले गए।

उक्त घटना के समान ही काशी की एक अन्य घटना भी प्रसिद्ध है, जिससे सुन्दर की मेधा और स्मरणशक्ति की सराहना करनी पड़ती है। सुन्दरदासजी अपने विद्यार्थी-काल मे अच्छे श्रोता रहे होगे। एक बार की बात है कि काशी के एक घाट पर, एक पण्डित जी कथा सुनाया करते थे और सुन्दरदासजी उनकी कथा सुनने नित्यप्रति वहॉ जाया करते थे। एक दिन किसी कारण से उन्हें कथा में पहुँचने में देर हो गई। उनके न पहुँचने के कारण कथावाचक पण्डित ने कथा ही प्रारम्भ नहीं की। उस समय तक वहाँ पहुँचे हुए अन्य श्रोताओं में विद्वान-श्रोता भी वहाँ पहुँच चुके थे। उन्होने पूछा कि—पण्डितजी कथा प्रारम्भ क्यों नहीं हुई? एकदम कथावाचक ने कहा कि अभी तक मेरी कथा का श्रोता ही नहीं आया है। यह सुन कर सभी चकित थे। तब तक सुन्दरदासजी वहॉ आ पहुँचे और कथा प्रारम्भ हो गई। कथा-समाप्ति पर विद्वान्-श्रोताओं में से एक ने कथावाचक से पूछा कि क्या यहीं तुम्हारा अच्छा श्रोता है? यह तो हम से विद्या-ग्रहण करता है। आपने उसे ही अच्छा श्रोता समझा, हम सबको नहीं। कथावाचक ने कहा कि वह अच्छा श्रोता ही नहीं

सच्चा श्रोता भी है। तब कथा-श्रोताओं ने इसका प्रमाण चाहा। इस पर कथावाचक ने उस दिन सुनाए गए कथा-विषय को अगले दिन पद्यबद्ध करके लाने को कहा। सबने कहा कि—अच्छा ठीक है। कथावाचक पण्डितजी ने सुन्दरदासजी से कहा कि—भाई, इस विवाद का निवारण तुम ही कर सकते हो। तब पण्डितजी के विश्वास को युवक सुन्दर ने शिरोधार्य किया। अगले दिन सब अपनी-अपनी सामर्थ्य से कथा-विषय को भाषा-पद्यों में बाँधकर लाए। सबके रचित पद्यों को कथा-स्थल पर सुनाया गया। तब कथावाचक ने कहा कि अब आप सभी निष्पक्ष होकर निर्णय करें कि किसके द्वारा रचित कथा-पद्य सर्वश्रेष्ठ हैं। सभी ने मिलकर कहा कि विद्यार्थी सुन्दर की रचना सर्वश्रेष्ठ है। इस घटना-प्रसंग के साथ यह भी मान्यता है कि उस रात्रि में रचित कथा-काव्य को ही आगे बढ़ाकर सुन्दरदास ने *ज्ञान समुद्र ग्रन्थ* की रचना प्रारम्भ की थी। *ज्ञान समुद्र ग्रन्थ* में, सुन्दरदास ने एक दोहे में, श्रोता की स्मरण-शक्ति का महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

सच्चे श्रोता को रहै, सब प्रसंग भल याद।
ज्ञान समुद्र बनाय के, सुन्दर हरा विवाद ॥

काशी-अध्ययन के बाद फतहपुर नगर में निवास—लगभग बीस वर्षो तक काशी में रहकर ज्ञान-शिक्षा प्राप्त करके सम्वत् 1682 में युवक सुन्दरदास, भ्रमण करते हुए राजस्थान के शेखावटी क्षेत्र के फतहपुर कस्बे में, कार्तिक माह की शुक्ला चतुर्दशी को लौटकर आ गए थे। और वही नगर के बाहर एकान्त स्थान में कुटिया बनाकर साधनाभ्यास करने लगे। तब सुन्दरदास वैराग्य भाव में इतने तन्मय रहते थे कि निर्जन स्थान में साधनानिरत रहने के कारण, सत्संगादि में भी रुचि नहीं लेते थे। वे अपनी साधना-कुटिया से मध्याह्न में भिक्षा के लिए अवश्य निकलते थे और क्षुधा-निवारण भर के लिए अन्न पाकर पुनः अपने स्थान पर लौट आते थे।

फतहपुर-निवास-काल में उनके जीवन की एक-दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। सुन्दरदास उन दिनों यद्यपि पूरी तरह से अपनी साधना में लगे हुए थे और ऐसा साधक, कभी चमत्कार-प्रदर्शन में थोड़ी रुचि नहीं लेता। चमत्कार, यद्यपि दूसरों के लिए चमत्कार होता है। सन्त-महात्मा के जीवन में ऐसी घटनाएँ सहज ही होती रहती हैं। एक दिन की बात है कि सुन्दरदास कस्बे से भिक्षा करके लौट रहे थे। मार्ग में दोनों ओर खेतो की रक्षा के लिए बाढ़ रूप मिट्टी की दीवारें बनी हुई थीं। संयोग से, उसी समय वहाँ का नवाब, अपनी सैनिक टुकड़ी के साथ दूसरी ओर से लौट रहा था। उस सैनिक टुकडी को देखकर, अपने को बचाने के लिए सुन्दरदास साथ की दीवाल के ऊपर चढ़कर सैनिको को देखने लगे। इसी बीच एक सैनिक ने महात्मा के हाथ में तुम्बीनुमा कमण्डलु देखकर, उनसे प्यास बुझाने के लिए पानी माँगा। सुन्दरजी ने कहा—पानी तो नहीं है भाई, छाछ है, पीओगे? सैनिका ने कहा—छाछ ही

पिला दो। सैनिक छाछ पीता चला गया, किन्तु छाछ समाप्त नही हुई। तब एक-दो ने और छाछ पीई। शिविर में आकर उन्होने आपस मे बात की कि आज महात्मा से छक कर छाछ पीई। किन्तु उन्हें आश्चर्य यह हो रहा था कि उस छोटी-सी तुम्बी की छाछ से, इतने लोग तृप्त कैसे हो गए? इस घटना का संकेत सुन्दरदास ने अपनी एक साखी में दिया है–

अल्प वस्तु भी सन्त के, हो अपार प्रख्यात।
सुन्दर एकहि तुम्बि की, छाछ सेन को प्यात ॥

उक्त घटना की सूचना जब वहाँ के नवाब अलफखाँ को हुई तो, वह अगले दिन सुन्दर की कुटिया पर जा पहुँचा और पूछा आपका घीणा (= दूध, दही, छाछ) काहे का है? इस पर सुन्दरदास ने उसे यह दोहा कह सुनाया–

सुन्दर के दो उदर दूझै, तीजी दूझै कोल।
चौथा सुन्दर आप ही दूझै, घीणा का धमरोल ॥

अर्थात् ज्ञान-वैराग्य रूप दो चूहे (= उन्दर), तीसरे निरंजन राम की भक्ति (= कोल)-संकल्प और चौथा साक्षी रूप स्वयं सुन्दर ही दुहा जाता है। जहाँ उक्त चारों होते हैं, वहाँ दूध-दही तो क्या, किसी चीज़ की कभी कमी नहीं रहती। सुन्दर का उक्त दोहा सुनकर नवाब, सुन्दरदास की और करामाते जानने के लिए उत्सुक होने लगा। इस पर सन्त-स्वभाव से, सहज ही सुन्दरजी ने कहा–स्वयं ही आसन उठाकर देख लो। तब उत्सुक हुए नवाब ने आसन का एक पर्त उठाया, तो उसे तालाब दिखाई दिया, दूसरा पर्त उठाने पर उसे सेना-लश्कर दीखा, तीसरा पर्त उठाने पर उसे फतहपुर नगर दिखाई देने लगा और आसन का चौथा पर्त उठाने पर उसे वह बन दिखाई दिया, जहाँ वह शिकार खेलने जाता था। इस पर उसने देखना बन्द कर, शर्मिन्दा होते हुए सुन्दरदासजी के चरण पकड़ लिए और अल्लाह–परमात्मा पाने का मार्ग पूछने लगा। उसने कहा कि–मुझे अल्लाह का दीदार करा दो। कहते हैं तब सुन्दरदासजी ने एक काँसे का कटोरा, पानी और राख मँगवाई। उन्होंने नवाब के सामने कटोरे में पानी भरा और उसमे राख डाल दी और कहा कि इसमें अपना चेहरा देखो। नवाब ने देखते हुए कहा कि चेहरा नहीं, राख दिखाई दे रही है। दूसरे जल में चेहरा देखते समय उन्होंने जल को हिला दिया। तब नवाब ने कहा कि–चेहरा दिखता तो है, पर साफ़ नहीं। पर, जल के शान्त होने पर चेहरा साफ़-साफ़ दिखने लगा। थोड़ी देर बाद नवाब ने फिर परवर दीगार को देखने का रास्ता पूछा। तब सुन्दरदासजी ने कहा–बता तो दिया। नवाब बोला–मैं समझा नहीं। तब उसे समझाते हुए सुन्दरदासजी बोले–जैसे मलिन जल में चेहरा दिखाई नहीं देता, वैसे ही माया से मलिन दिल में ईश्वर का दर्शन नहीं होता। निर्मल हृदय में ही आत्मदर्शन होता है। तुम अन्तहकरण को शुद्ध और स्थिर करो, तुम्हें अल्लाह का दीदार होगा।

इसी भावबोध को, सुन्दरदास ने एक दोहे मे इस प्रकार समझाया है–

शुचि एकाग्रचित बिना, हो न ईश साक्षात।
समझाई जल भस्म से, सुन्दर ने यह बात ॥

उक्त सत्सग के बाद नवाव अलफखॉ की श्रद्धा, सुन्दरदासजी के प्रति दिनोदिन बढने लगी। सन्त सुन्दर को भी उसके हित-अहित की चिन्ता रहने लगी। एक बार तो उन्होने नवाब को पहले ही आगाह कर दिया था कि तुम्हारी अश्वशाला ढहनेवाली है। वहॉ से घोडों और सईसों को अलग हटा लो! नवाब ने समय रहते हुए ऐसा ही किया। कहा जाता है कि कुछ समय में ही अश्वशाला का भवन गिर पड़ा और घोड़े तथा उनके रक्षक सकुशल बच गए। उक्त घटना का उल्लेख एक अन्य दोहे में इस प्रकार है–

सत दया की मूर्ति हैं, सबकी करें सहाय।
सुन्दर ने सु नवाब के, घोड़े दिए बचाय ॥

फतहपुर में ही घटित एक अन्य घटना का उल्लेख करना भी यहॉ प्रासंगिक लगता है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि लोग पाखण्डियों के चमत्कारों के दिखावे मे, असलियत न समझकर, फॅस जाते हैं। एक ब्रार फतहपुर कस्बे मे धूनी लगानेवाला एक महात्मा आ गया और शरीर पर राख-भस्मी लगाकर लोगो को अपने पाखण्ड-कर्म की ओर आकर्पित करने लगा। ऐसे धूर्त्त-पाखण्डी ठग, लोगो की कमजोरी समझते हैं। उसने भी वैसा ही किया। वह आनेवाली अमावस्या की रात्रि को, लोगो के स्वर्णाभूषणों को, अपनी मन्त्र-सिद्धि से दुगुना करेगा, ऐसा प्रचारित कराया गया। अतः अपने-अपने आभूषणों को, मन्त्र की शक्ति से दुगना कराने के इस अवसर को किसी प्रकार भी हाथ से नहीं जाने देना चाहिए, ऐसा लोगों को समझाया गया। तब उस पाखण्डी के आसपास मेला-सा लगने लगा। उसकी ऐसी करतूतो को सुनकर सुन्दरदास को बहुत दुख हुआ और उन्होंने एक सवैया छन्द की रचना की, जिसकी तीन पंक्तियॉ तो उन्होंने लिख ली, चौथी नहीं लिखी। वे परिणाम की प्रतीक्षा करते रहे। जब उस अमावस्या की रात्रि के घने अंधकार में वह धूर्त्त-पाखण्डी, लोगों के आभूषणों को लेकर चम्पत हो गया। यह बात सुन्दरदास ने जब सुनी, तब उन्होंने वह सवैया छन्द इस प्रकार पूरा किया–

आसन मारि सँवारी जटा नख, उज्जल अंग विभूति चढ़ाई।
या हम को कछु देय दया करि, घेरि रहे बहु लोग लुगाई ॥
कोउक उत्तम भोजन लावत, कोउक ल्यावत पान मिठाई।
सुन्दर लेके जात भया सब, मूरख लोगन या सिधि पाई ॥

इसी प्रकार फतहपुर के ही बसल गोत्रीय अग्रवाल वैश्य रायचन्द को स्वस्थ करने तथा उसकी सुन्दर पत्नी की रक्षा करने सम्बन्धी एक घटना प्रसिद्ध है। इस

सम्बन्ध में अर्धग (लक़वा) की बीमारी से लाचार पति रायचन्द एव उसकी पत्नी की शील-रक्षा का उल्लेख मिलता है। निराश रायचन्द का, सुन्दरदास ने अपनी वाणी के तेज से आत्मबल जगाते हुए, मनोबल ऊँचा किया था और पत्नी को पूरबी भाषा मे रचित वह छन्द सुनाया था, जिसमें उन्होने स्त्री की मर्यादा बताते हुए, पराए घर की देहलीज में प्रवेश करना भी वर्जित बताया था। छन्द इस प्रकार है–

आपहि आपु जतन करु, जो लग वारि वयेस।
आन पुरुष जनि भेटहु, केहू के उपदेस ॥
यह जोबन पिय कारने, नीके राखि जुगाइ।
अपना घर जनि छोड़हु, पर घर अग्गि लगाइ ॥

कहते है कि सुन्दरदासजी के सदुपदेश का, बुरी नियत रखनेवाले नवाब पर भी ऐसा असर पडा कि उसकी दृष्टि ही बदल गई। उक्त प्रसंग की व्यजना प्रस्तुत दोहे में देखी जा सकती है–

संत बचन सुनि पाप से, जीव सहज बच जाय।
रायचन्द नारी बची, नृप का भय छिटकाय ॥

फतहपुर में रहते हुए ही एक अन्य घटनाा सद्गृहस्थ रूपदासजी की है। ये वही रूपदास है, जिन्होंने सन्त सुन्दरदासजी की समूची वाणी की, दो वर्षों मे प्रतिलिपि तैयार की थी। कहा जाता है कि एक बार रूपदास अपने गृहस्थ जीवन में, बड़े आर्थिक संकट से गुज़र रहा था। तब वह अपने घर का खर्च तक चलाने में असमर्थ हो रहा था। इसीलिए घर छोडकर, सुन्दरदासजी के साथ भ्रमण करना चाहता था। जब यह सच्चाई सुन्दरदासजी को मालूम हुई, तब सन्त स्वभाव से उन्होने उसे समझाया और अपनी रचित वाणी में से *विश्वास कौ अग* की रचनाएँ उसे बार-बार सुनाईं। वाणी सुनकर उसके मन में ईश्वर-आस्था का उदय हुआ। इससे उसके मन का क्लेश मिट गया और वह अपने अध्यवसाय में जी-जान से जुट गया। फलतः उसकी जीविका ठीक प्रकार से चलने लगी। इसी रूपदास ने आगे चलकर सुन्दरदास जी के जीवन-काल के अन्तिम दिनो मे, लगभग दो वर्ष तक लगातार लगकर, सुन्दर-वाणी की प्रतिलिपि तैयार की थी। ये प्रतिलिपि (= दो प्रतियॉ) सुन्दरदासजी के हस्ताक्षरों से युक्त होकर, अब भी कहीं सुन्दर के अनुयायिओं के यहॉ, सुरक्षित रखी हैं। उक्त घटना-प्रसग का उल्लेख सुन्दर के एक दोहे में इस प्रकार सुरक्षित है–

संत वचन सों होत है, ईश्वर पर विश्वास।
रूपदास की मिटि गई, सुन्दर वच सों त्रास ॥

उक्त घटनाओं के समान ही चोरो को क्षमादान एवं रबावची के प्रति सहृदयता दिखाते हुए उसकी सहायता करने की घटनाएँ भी, सुन्दर के लम्बे जीवन की हैं, जो

लोगो के हृदयों मे घर किए हुए हैं। कहा जाता है कि एक बार फतहपुर में रहते हुए उनकी कुटिया से चोर उनकी चारपाई एव कुछ और सामान लेकर चम्पत हो गए। श्रद्धालु अनुयायियों ने जव सुना तो निशानदेही पर चोरों का पीछा किया और उन्हे चुरू कस्बे के निकट धर पकडा। चोरो को सुन्दरदासजी के पास लाया गया। तब क्षमाशील सन्त ने, उन चोरो को क्षमा कर दिया। किन्तु चुरू के लोगों ने चोरी की गई जाज़म और पलंग श्रद्धावश एवं आदर भाव से, सन्त-वस्तुएँ समझकर, अपने यहॉ ही रख लीं। ये वस्तुएँ आज भी वहॉ मौजूद बताई जाती हैं। अभी कुछ वर्षो पूर्व सुन्दर-वाणी के अनन्य श्रद्धालु स्वामी नारायणदास ने इन वस्तुओं का चुरू में दर्शन किया था। दूसरी घटना भी फतहपुर की ही है, जब अपने प्रति दुर्व्यवहार करनेवाले के प्रति भी सुन्दरजी ने सहृदयता दिखाते हुए, उसकी रक्षा की थी। फतहपुर में एक रबाबची था, जो रबाब बजा-बजाकर लोगों को रिझा-रिझाकर अपना गुज़ारा करता था। फतहपुर का नवाब भी उसका रबाब-संगीत सुना करता था। एक दिन की बात है कि सुन्दरजी नंगे सिर कहीं से आ रहे थे। दूसरी ओर से रबाबची अपने वाद्ययन्त्र रबाब के साथ नवाब की हवेली की ओर जा रहा था। सुन्दर को नंगे सिर आते देखकर, उसने अपना अपशकुन समझा और गुस्से में भरकर अपनी रबाब उनके सिर में दे मारी। सन्त सुन्दर के थोड़ी चोट तो आई, पर उसकी रबाब टूट गई। दुखी होता हुआ वह नवाब के यहॉ न जाकर अपने घर लौट गया। कुछ समय में अपनी रबाब ठीक कराके वह फिर नवाब की बैठक में पहुँचा, तो देखता है कि जिन के सिर में रबाब मारी थी, वे स्वयं सामने बैठे हैं। वह सोचने लगा कि आज भी मेरा काम बिगड़ गया। पर, सन्त-चेतना में कभी प्रतिशोध नहीं रहता। रबाबची को देखकर सुन्दर ने सोचा कि इस वेचारे की रबाब उस दिन टूट गई थी। अतः इसे अब कुछ अधिक इनाम मिलना चाहिए। उन्होने नवाब से कहा कि—यह बेचारा ग़रीब है और कलाकार भी है। इसे अच्छा इनाम मिलना चाहिए। यह सुनकर रबाबची का भय दूर हो गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। गुरु-परम्परा में उल्लिखित इस घटना का संकेत, राघवदास ने अपने एक दोहे में इस प्रकार किया है—

> सिर पर दई रबाब की, क्रोध नही लवलेश।
> फिर उलटी पूजा करी, राघो वह दरवेश ॥

इस प्रकार सम्वत् 1682 से 1700 वि. तक सुन्दरदासजी फतहपुर क्षेत्र में विचरते हुए, वहीं रहकर साधना-सत्सग करते हुए, अपनी योग-साधना और रचना-धर्म में तत्पर बने रहे। अपने फतहपुर-निवास को, सुन्दरदास ने अपने देशाटन के सवैयो में महत्त्वपूर्ण माना है। वहॉ रहते हुए उन्होंने वहाँ के स्त्री-पुरुषों की अस्वच्छ प्रवृत्ति एवं रहन-सहन के व्यवहार को किंचित् स्वीकार नहीं किया। यहॉ तक

कि वहॉ की स्त्रियों में स्वच्छताप्रवृत्ति न होने की, उन्होने अपनी रचना में शिकायत भी की है और अपनी खिन्नता को समस्यापूर्ति जैसे वाक्याशो से इस प्रकार सवैयाबद्ध भी किया, जो रचनाकार का, सामाजिक-पारिवारिक परिवेश मे, बुराइयो को निःसकोच उजागर करना मुख्य धर्म है—

सुच्चि अपार कछू न बिचारत मास छठै कबहूक सन्हांही।
मूंड षुजावत बार परे गिर ते सब आटे मैं वो सनि जांहीं॥
बेटि रु बेटन कौ मल धोवत वैसैंहि हाथन सों अंनहि षांहीं।
सुन्दरदास उदास भयौ मन, फूहड़ नारि फतैपुर मांहीं॥

फतहपुर के बाद सुन्दरदासजी ने सर्वाधिक समय राजस्थान के कुरसाने क्षेत्र में व्यतीत किया था। कुछ दिनों गुजरात क्षेत्र मे भ्रमण करने के उपरान्त सुन्दरदास कुरसाने में आकर ठहर गए थे। यह कुरसाना आज का कौसाना कस्बा है, जो राजस्थान के पाली ज़िले में है। यहॉ की जलवायु उन्हें अपने अनुकूल लगी होगी, इसीलिए वहाँ ठहरे रहे। उन्होंने इस बारे में लिखा भी है—*सोच बिचार के सुन्दरदास जु याहि तैं आइ बसे कुरसाने*। कहते हैं कि कुरसाने में सुन्दरदासजी पहले से पक्की बनी एक छतरी के नीचे रहते थे। वही प्रतिदिन उनका प्रातःकालीन सत्संग होता था। वहॉ के ठाकुर वहीं उनकी सेवा किया करते थे। एक दिन की बात है कि सत्संग पूर्वमध्याह्न में समाप्त होते ही, ठाकुर के घर से भोजन की थाली आ गई। उसको देखकर, वहॉ बैठी एक ग़रीब महिला, जिसका नाम *रामी* था, ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। तब महात्मा स्वभाव से सुन्दरजी उसके निकट गए और पूछा—माँ, क्यों रोती हो, क्या बात है? सुन्दरदास के प्रीतिकर शब्दों को सुनकर रामी का गला भर आया और वह गद्‌गद कण्ठ से बोली—ठाकुर साहब के घर से आई थाली देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ है। यदि मैं भी भोजन कराने योग्य होती, तो स्वामीजी को अपने हाथों का भोजन कराती। अपने अभागेपन को सोचकर मुझे रोना आया है। तब सुन्दरदासजी ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—तुम्हारे यहाँ आज क्या बना है? जो भी बना हो, उसे ले आओ! मैं उसी का भोग लगाऊँगा। कहते हैं कि रामी तत्काल गई और अपने घर बने बाजरे के आटे की राबरी को, एक कटोरे में भरकर ले आई, जिसे सुन्दरजी ने प्रभु-अर्पण करते हुए सप्रेम खाया। तब रामी बहुत प्रसन्न हुई थी। इस घटना-प्रसंग को जीवित रखनेवाला सुन्दर कृत यह दोहा आज भी प्रसिद्ध है—

ईश संत लें भक्त की वस्तु न देत जवाब।
बेर भखे श्रीराम ने, सुन्दर खाई राब॥

देशाटन के अनुभव—घुमक्कड़ी, जीवन को व्यापक एवं अनुभव धनी बनाने का सुगम और श्रेष्ठ साधन है। सन्त-चेतना की व्यापकता, उनके भावों में सरसता एवं भाषा में समन्वय शक्ति का मुख्य कारण, सन्तों की घुमक्कडी-वृत्ति को ही माना

जाता है। सन्त सुन्दरदास के व्यापक विचारो की पृष्ठभूमि जानने के लिए उनकी रामति के अनुभवों को, जो उनके देशाटन के सवैयों में समाहित है, जानना आवश्यक है। साहित्य के इतिहास में यात्रा-सस्मरणो की दृष्टि से, विशेषत भाषाकाव्यो में, कबीर एव नानक के बाद सुन्दरदास का नाम महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हिन्दी-रचना में इतने बड़े भू-भाग के अनुभवो को, संस्मरणों के रूप मे निरूपित करनेवालों मे सुन्दरदास का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए। इसका मुख्य कारण है कि उन्होंने अपनी देशाटन सम्बन्धी अभिव्यक्ति मे, न केवल सामाजिक रीति-नीति एवं व्यक्ति के आचरण पर अपनी राय दी है, अपितु भौगोलिक सन्दर्भो में भी अनेक प्राकृतिक पक्षों को रेखांकित किया है। उन्होंने इतने बड़े भू-भाग की जनता की प्रवृत्तियों, उनके खान-पान, रहन-सहन, भाषा-बोलियों और रूढियों तक को छन्दबद्ध किया है, जिन्हे पढ़ते ही बनता है। सुन्दर कृत देशाटन सम्बन्धी अनुभवों को, हिन्दी-साहित्य जगत् की, लगभग चार सौ वर्ष पूर्व की महत्त्वपूर्ण लेखन-घटनाओ को, पूरे देश-समाज के सन्दर्भ में देखना-परखना चाहिए। इन छन्दों मे लेखकीय स्वभाव, निर्द्वन्द्वता एव निर्भीकता तो मुखर है ही, लेखक द्वारा अपनी प्रतिक्रियाओं को निःसंकोच अभिव्यक्त कर पाना भी, रचना का एक बड़ा गुण माना जा सकता है। स्थानीय परिस्थितियो में, सन्त सुन्दरदास जैसे रचनाकारों की विनोदपूर्ण उक्तियों एवं उनके प्रकृति-प्रेम पर भी, पाठक को अपनी राय बनानी चाहिए।

सुन्दरदास के देशाटन के सवैयो में सुन्दर की *रामति* में अर्जित अनुभवों के द्वारा वास्तव में सन्त-चेतना की ही अभिव्यक्ति हुई है। इन छन्दों को पढ़ते हुए लगता है कि रचनाकार के समक्ष पर्यटन-स्थल का भूगोल, प्रकृति, जनजीवन एवं उसकी सास्कृतिक चेतना के पक्ष तो उभरे ही हैं, उनकी बोली, वस्त्र, खान-पान और रहन-सहन की आदतें भी मुखर हुई हैं। इन सवैयों में पश्चिमी प्रान्त के लाहौर, राजस्थान के फतहपुर, मारवाड क्षेत्र के कुरसाना, डीडवाना, मध्यक्षेत्र के मालवा तथा पश्चिम मे गुजरात एवं देश के दक्षिण-पूर्व एवं उत्तर के हिमालय-क्षेत्रों का यथार्थदर्शी आकलन हुआ है। सुन्दरदास, वहॉ-वहाँ की भूमि-जलवायु के प्रभावों को समेटते हुए, स्थानीय स्त्री-पुरुषों के संसर्ग को भी अपने छन्दों के कैमरे में बॉधते रहे हैं। अतः कह सकते हैं कि ये छन्द देशज-संस्कृति के मूल्यो को, भाषा में उजागर करने का स्तुत्य एवं ऐतिहासिक प्रयत्न है। इन छन्दों में सुन्दरदासजी की सुधारवादी चेतना का होना स्वाभाविक है। शृंगारी प्रवृत्ति के विरोधी, किन्तु सौन्दर्य चेतना के धनी रचनाकार सुन्दरदास ने स्त्री-पुरुषों की फूहड प्रवृत्ति का खुला विरोध किया है। सन्त स्वभाव से वे किसी की भी निन्दा करना उचित नहीं समझते। किन्तु, देशाटन के समय देखे गए सामाजिको मे अस्वच्छता की प्रवृत्ति अथवा आलसी आदतों का वे खुला विरोध करते देखे जा सकते है। पूर्व देश के निवासियों के विषय में जो उन्होंने लिखा है, वह अनुभव शायद बनारस में रहते हुए ही उनकी पैनी दृष्टि ने अर्जित कर

लिया गया होगा। खुलेआम प्याज का भक्षण, मासाहार, मछली का खाना, मल-मूत्र त्यागने का ढग तथा स्त्रियों का ऑखे फाड-फाड़कर पर-पुरुष को देखना, सुन्दरदास को उनके निर्लज्ज स्वभाव का ही अंग लगा है। दक्षिण के लोगों के सम्बन्ध में भी सुन्दरदास की कुछ-कुछ ऐसी ही राय रही है। उक्त छन्दो के अन्त में—*पूरब देस न संत पधारत* तथा *सु सत सिधार करैं कहा दच्छन*, जैसी पक्तियॉ रचनाकार के मनोभाव को बखूबी रेखांकित करती है। यही नहीं, पश्चिम के गुजरात क्षेत्र के लोगों के सम्बन्ध मे भी उनकी ऐसी ही कुछ राय रही है। पर, गुजरात के लोगो की गरीबी एवं युवकों का निरुद्देश्य घूमना सुन्दरदास को दु:खी एवं बेचैन करता रहा है—

और तो देस भले सब ही हम देषि भया गुजरातहूँ गाडी।
आभत छोत अतीत सौ कीजै, बिलाई रु कूकर चाटत हांडी ॥
बिबेक विचार कछू नहिं दीसत, डोलत जूथ जहां तहां रांडी।
सुन्दरदास चलौ अब छाडि कै, और सहौगे तौ होइगी भांडी ॥

कवि दोष-द्रष्टा नहीं होता। पर, आलोचक, चश्मदीद गवाह तथा स्पष्टवादी अवश्य होता है। वह अपने ही क्षेत्र की स्त्रियों की अस्वच्छ एवं आलसी प्रवृत्तियों पर कटाक्ष कर सकता है, तो पश्चिम क्षेत्र के (बोली में-) भाषा-विकार पर भी आक्षेप कर सकता है। वह बोली है असाडे-तुसाडे बोलनेवाली स्त्रियों की। ऐसी बोली को न समझ मे आनेवाली बताकर सुन्दरदास ने अपना आरोप दर्ज कराया है। किन्तु, छुआछूत की प्रवृत्ति न होना तथा तन्दूर की रोटी खाकर कुऍं का ठण्डा पानी पी लेने को रचनाकार, लोगो की दिनचर्या का अंग मानता है। सुन्दरदास ने पंजाब के सीमान्त में बसे लाहौर नगर की दो बार यात्रा की थी, ऐसा उनकी वाणी से लगता है। पहली बार जब वे लाहौर से लौटे थे, तब उस क्षेत्र के अनुभव को वे कटु अनुभव मानते हैं। सम्भव है कि पहली यात्रा में उन्हे अच्छे सत्संगी न मिले हों और इसीलिए वे वहॉ अधिक दिन ठहरे भी नहीं होंगे। पहले अनुभव की व्यंजना प्रस्तुत दोहे में देखी जा सकती है—

आये थे कुछ और को, होय गई कछु और।
कपडे फाड़े गांठ के, देख चले लाहौर ॥

किसी व्यक्ति अथवा स्थान के सम्बन्ध में पहले ही अपेक्षाऍं बना लेने पर निष्कर्ष भी प्रायः ऐसे ही निकलते हैं। कुछ सत्संगी एव सूफ़ी फकीरों के निमन्त्रण पर जब वे दुबारा लाहौर गए थे, तब छज्जू भगत के चौबारे पर ठहरे थे। कहा जाता है कि स्वयं छज्जू भगत, दादूजी के शिष्य बनवारीदास की शिष्य-परम्परा के भगत थे। इसीलिए सुन्दरदासजी की वहॉ बड़ी आवभगत हुई थी। इसी कारण सुन्दरदास के सत्संग एवं ज्ञान-विचार की प्रशंसा, लाहौर के सभी सत्संगी जनों में हुई थी और

इसीलिए लाहौर के सम्बन्ध मे रचे गए सवैया छन्द में, वहाँ के लोगो की यह विशेषता, सुन्दर ने सहज ही रेखांकित की है–

> हिक्क लाहोर दे है बिरहीजन, हिक्क लाहोर दे सेवग भाये।
> कितइक बात भली लाहौर दी, ताहि तें सुन्दर देषन आये ॥

यही नहीं, लाहौर मे पण्डितो के बीच शास्त्रार्थ भी हुए हैं। एक बार की बात है कि शास्त्रार्थ मे विपक्षी पण्डित श्रीहीन हो गया, तब उसे सुन्दरदास ने समझाया और वाद-विवाद में न पड़ने की सलाह देते हुए उन्होने कहा है--

> बूसर कहै तूं सुन दूसर, बाद बिवाद न करना।
> यह दुनिया तेरी नहि मेरी, नाहक क्यों अड़ मरना ॥

देशाटन के सवैयों को पढते हुए ऐसा लगता है कि सुन्दरदास अपने स्थानीय अनुभवों को, अपने साथी अनुयायियों को चलते-फिरते सुनाया करते होंगे और भावावेग में कभी-कभी उनको अपनी स्मृति में छन्दबद्ध कर लेते होंगे। अन्यथा, आचार-व्यवहार, खान-पान, वेश-भूषा अथवा भाषागत प्रवृत्तियो के इतने बडे अनुभवफलक को एक साथ जुटा पाना कठिन है। क्योंकि, स्थानीय बोली के शब्दों को अपनी रचना का अंग बना पाना, लम्बे अभ्यास का ही परिणाम कहा जा सकता है। इन छन्दो को पढकर यह भी लगता है कि सुन्दरदास का प्रकृति से गहरा लगाव रहा होगा। साथ ही उनका सौन्दर्यबोध कहीं कुण्ठित दिखाई नहीं देता। उदाहरण के लिए मारवाड़ क्षेत्र की रेत उड़ाती उजाड़ मरुभूमि उन्हें नहीं भाई और वे वहाँ ठहरने के स्थान पर, जल्दी से जल्दी निकल भागने की सोचने लगे होंगे। देखिए–

> बृच्छ न नीर न उत्तम चीर सु देसन मैं गत देस है मारू।
> पांव मैं गोंषुरू भुर्ट गडै अरु आंषिन मैं आइ परै उड़ि बारू ॥
> राबरि छाछि पिवै सब कोइ जु ताहि तें षाज रतैंधुर न्हारू।
> सुन्दरदास रहौ जिनि बैठि कै, बेगि करौ चलिबे कौ बिचारू ॥

दूसरी ओर मालवा क्षेत्र की धरती, जलवायु और उपज की दृष्टि से उन्हें बहुत प्रिय लगी होगी। इसकी वे खुलकर प्रशंसा करते देखे जाते हैं–

> बृच्छ अनंत सुनीर बहत सु सुन्दर संत बिराजैं जहीं तें।
> नित्य सुकाल पडै न दुकाल, सु मालव देस भलौ सबही तें ॥

ठहरने की दृष्टि से सुन्दरदास के जीवन का अधिकांश समय फतहपुर के बाद, कुरसाना नगर ही कहा जा सकता है, जहाँ की जलवायु उन्हें अच्छी लगी। यही नहीं, अधिकांश साहित्य-रचना भी उन्होंने वहीं की है। वास्तव में इस निर्मल हृदय सन्त ने, जीवन भर जो सयमी एवं तपस्वी रचनाकार का जीवन जिया है, उसमें उनके एकान्त प्रेम एवं प्रकृति-प्रेम की सराहना की जानी चाहिए। इसी दृष्टि से इन्होंने देश

के उत्तरी भाग में व्याप्त हिमालय-क्षेत्र की भूमि को साधना के लिए बहुत उपयोगी बताया है। युगों से यह क्षेत्र पवित्र एवं साधना-अध्यात्म की भूमि के रूप मे जाना जाता रहा है। गंगा का तट, उसके जल से सिंचित वानस्पतिक औषधियॉ, कन्दमूल, फल-फूल तथा वैर-भाव को त्यागकर स्वतन्त्र रूप मे निर्भय रहकर विचरनेवाले पशु-पक्षी एवं अन्य जीव-जन्तुओं के साथ ही साधक तपस्वियों का समररस जीवन, सुन्दरदास को बहुत आकर्षक लगा है। उनकी मान्यता है कि ऐसा रमणीक प्रदेश, जहॉ गोरखनाथ जैसे तपस्वी साधक विचरते रहे हों, वह साधनास्थली, योग-साधना के लिए सभी को लुभानेवाली है—

कंद रु मूल भले फल फूल सुरस्सरि कूल बने जु पवित्तर।
आधि न व्याधि उपाधि नहीं कछु तारि लगे तें टरै जु मनत्तर ॥
ज्ञान प्रवास सदाइ निवास सु सुंदरदास तिरै भव दुस्तर।
गोरखनाथ सराहिं हैं जाहि जु जोग कै जोग भली दिस उत्तर ॥

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि सुन्दरदास की रामति से जुड़े सवैया छन्दों के प्रतिपाद्य में, सुन्दर के भावाख्यान के साथ ही अन्य सन्तों का चरित्राख्यान भी व्यंजित हुआ है। कबीर-नानक की तरह सुन्दरदास ने भी देश के बहुत बडे भू-भाग मे भ्रमण किया था। वे जहॉ भी गए—रहे, वहाँ के लोगों से मिले, उनकी प्रवृत्तियों को, रहन-सहन को गहराई से देखा-समझा है। इसीलिए शायद उनके सवैया-छन्द, यात्रा-वृत्तान्त प्रसंग में, हिन्दी-रचनाकार द्वारा रचे गए प्रथम यात्रा-वृत्तान्त कहे जा सकते हैं। वृत्तान्त होते हुए भी, इनमें भाव-भाषा और अलकरण की प्रवृत्ति पठनीय है, इनमें रचनाकार का रीतिकालीन परिवेश भी झॉकता है। ब्रजभाषा के परिवेश में अन्य भाषाओ की शब्दावली का गुफन, कवि के भाषाधिकार को ही मुखर करता है। यही नही, भाषा में चित्रात्मकता, मुहावरों-सूक्तियों का प्रयोग देखते ही बनता है। इन सवैयो में जिन क्षेत्रों-नगरों का उल्लेख या वर्णन मिलता है, उनके अतिरिक्त भी बहुत से नगरों का वर्णन सुन्दर-वाणी में हुआ है। जैसे—बलख-बुख़ारा, क़ाबुल, काश्मीर, काशी, आगरा, दिल्ली, पटना, राजमहल आदि, इससे लगता है कि इन नगरों से भी किसी-न-किसी रूप में सुन्दरदास जुड़े रहे हैं।

सुन्दरदासजी के शिष्य और अनुयायी—राजस्थान ही नहीं, देश के बहुत बड़े भू-भाग में बिचरने-ठहरने के बाद, सुन्दरदास अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अधिकांश समय तक फतहपुर कस्बे में ही रहे। वहीं उनका थाम्भा आज भी बना हुआ हैं। पूरे जीवन-काल में इनके अनेक प्रशंसक-अनुयायी रहे हैं। अनुयायियों में इनके पॉच शिष्यों का नाम प्रमुख हैं। राघवदास कृत *भक्तमाल* की छन्द संख्या 651-52 में इनके शिष्यों का उल्लेख—'बूसर सुन्दरदास के शिष्य सु पाँच प्रसिद्ध हैं', के रूप में मिलता है। इनके प्रथम शिष्य दयालुदास थे, जो सुन्दरदास के देहावसान के बाद, फतहपुर

मे सुन्दर-थाम्भे को सॅभालने लगे थे। राघवदास ने भक्तकाल मे इन्हीं दयालुदास को काव्य-कोश एव व्याकरण-शास्त्र का विद्वान रचनाकार बताया है। इनके अतिरिक्त सुन्दर के चार अन्य शिष्य हैं—श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास और नारायणदास। ये पॉचो जहॉ-जहॉ थाम्भों पर बैठे है, उन सभी को सुन्दर-थाम्भे कहा गया है। इन सब में फतहपुर का थाम्भा प्रमुख माना गया है। इसी थाम्भे पर सुन्दर की हस्तलिखित पाण्डुलिपियॉ, पत्रादि एवं जीवन की अन्य उपयोगी वस्तुएँ—टोपी, चादर, चित्र, पलंग आदि, अपनी जीर्णावस्था में आज भी विद्यमान हैं। जीवन की अधिकांश घटनाएँ और समय फतहपुर में बीतने के कारण सुन्दरदास को *सुन्दरदास फतहपुरिया* तक कहा गया है। उक्त पॉचों शिष्यों में ज्यादातर पत्र-व्यवहार नारायणदास के साथ ही हुआ है। उक्त शिष्यों के भी शिष्य, सुन्दर-प्रशिष्य रूप में उल्लिखित हैं। इन सभी के विषय में पूरी जानकारी—*दादू पन्थ परिचय ग्रन्थ* के पर्व नौ के अध्याय सात से प्राप्त की जा सकती है। वहॉ उल्लेख है कि शिष्य नारायणदास का देहावसान, सुन्दरदास के रहते हुए ही, सांगानेर मे हो गया था।

सुन्दरदासजी के अन्य समकालीन—मनुष्य, विशेषतः रचनाकार का व्यक्तित्व, उसके समकालीनों की स्वीकृति अथवा पारस्परिक घटना-प्रसंगों के माध्यम से भी भली प्रकार जाना-समझा जा सकता है। परिचित-मित्रों के बीच रहते हुए ही उसके व्यक्तित्व के अनेक पक्षो की जानकारी मिलती है। सुन्दरदास ने अपने जीवन-काल मे बादशाह जहॉगीर (शासनकाल सम्वत् 1662-1684 वि.), शाहजहॉ (शासनकाल सम्वत् 1684-1715 वि.) तथा आधे से अधिक औरंगज़ेब (शासनकाल सम्वत् 1715-1764 वि.) का शासनकाल देखा था। वह युग ऐसा था, जिनमें भारत के अनेक प्रदेशों में सुन्दरदास ने भ्रमण किया था। यही नहीं, धर्म-साहित्य एवं शासन के क्षेत्र में भी, भारतीय इतिहास की अनेक स्मरणीय विभूतियाँ इस कालावधि में विद्यमान थीं। पंजाब मे उस काल में पाँच सिख गुरु हुए—गुरु हरगोविन्द, हरराय, हरकृष्ण राय, तेगबहादुर जी और गुरु गोविन्दसिंह। बीकानेर में *भाषाभूषण* के रचयिता नरेश जसवन्त सिह (राज्यकाल सम्वत् 1695-1732 वि.) हुए। अकबर के मन्त्री व सेनापति एवं तुलसीदास जी के मित्र कवि रहीम (सम्वत् 1610-1683 वि.), महाकवि केशवदास, सेनापति, बिहारी एवं मतिराम जैसे प्रसिद्ध कवि भी उसी युग मे हुए हैं। सन्त मूलकदास (सम्वत् 1631-1739 वि.) तथा *अर्ध कथानक* के रचयिता जैन कवि बनारसीदास (सम्वत् 1643-1698 वि. तक वर्तमान) का भी वही समय था। इन सबके साथ सुन्दरदास के मिलने या परिचित होने के सम्बन्ध में विवरण या प्रमाण तो प्राप्त नहीं हैं। पर, ये स्वयं एक अच्छे विद्वान और कवि थे। अत· यह असम्भव नहीं कि उक्त व्यक्तियों में से अनेक के साथ इनका सम्पर्क रहा हो और उनसे ये प्रभावित भी हुए हों (*हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास*, चतुर्थ भाग, खण्ड 2, पृ. 200)। यहॉ यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि सुन्दरदास नामधारी

और भी ऐतिहासिक नाम हैं, जिनके विषय मे भी सूचना देना आवश्यक है। दादू-शिष्यों मे ही एक अन्य सुन्दरदास हुए है, जिन्हे सुन्दरदास बड़े नाम से ख्याति मिली है। ये ही, शस्त्र-धारण करने के आग्रह के कारण, बाद मे नागा जमात में सम्मिलित हो गए थे। इनके अतिरिक्त तीन और सुन्दर नाम-राशि के व्यक्ति, साहित्य के इतिहास में उल्लिखित है। एक सुन्दर कविराय नामक रचनाकार हुए हैं, जो ग्वालियर के निवासी एव नागर-ब्राह्मणवंशीय थे। इनकी प्रसिद्धि बादशाह शाहजहाँ के दरबारी कवि के रूप में हुई है। इनकी प्रसिद्ध रचनाकृति *सुन्दर शृगार* नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी रचना सम्वत् 1688 वि. में हुई थी। *सुन्दर शृंगार* नामक रचना, संस्कृत की *शृगार मंजरी* जैसी शृगारी रचना के अनुकरण पर हुई थी। इसके अतिरिक्त इनकी *सिहासन बत्तीसी* एव *बारहमासा* रचनाएँ भी, इन्हीं सुन्दर कविराय की हैं। अपने सन्त सुन्दरदास ने, सुन्दर शृंगार शीर्षक शृंगारी रचना पर व्यंग्य करते हुए, प्रतिपाद्य के कारण, उसे समाज के लिए अहितकर रचना बताया था। इन्हीं सुन्दर कविराय से सन्त सुन्दरदास की मुलाक़ात शायद उनके आगरा-प्रवास के समय हुई हो। क्योंकि आगरा में रह रहे जैन कवि बनारसीदास का मिलना और उनसे सुन्दर का सत्संग एवं पत्र-व्यवहार लोक-प्रसिद्ध है। बनारसीदास के अतिरिक्त दादू के शिष्यों में प्रसिद्ध जनगोपाल भी हुए हैं, जिन्होंने *दादू जन्म लीला* की रचना की है, ये भी आगरे के निकट फतहपुर सीकरी के निवासी थे और सन्त सुन्दरदास के समकालीन थे। इनके माध्यम से भी सन्त सुन्दरदास की, सुन्दर कविराय से भेंट सम्भव है। दूसरे सुन्दर कवि, जो सम्वत् 1930 वि. मे विद्यमान थे, राजस्थान के असनी जनपद में फतहपुर के निवासी थे और ये भाट कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। इनकी *रसप्रबोध* नामक रचना का उल्लेख मिलता है। तीसरे सुन्दरदास का नाम बनारस क्षेत्र का होने के रूप मे, उल्लेख है। इनका रचनाकाल सम्वत् 1857-69 के बीच में बताया गया है। इनकी तीन रचनाएँ हैं—1. *सुन्दर श्यामविलास*, 2. *विनयसार* और 3. *शृंगार शतक*। विचार करने पर देखने से पता लगता है कि सन्त सुन्दरदास के नाम के साथ, अन्य '*सुन्दर*' नामों की भ्रॉति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि, सभी का कार्यक्षेत्र और रचना-धर्म अलग-अलग रहा है। समीक्ष्य सन्त सुन्दरदास के व्यक्तित्व के विषय में और अधिक जानकारी के लिए, इनके निकट सम्पर्की एवं समकालीनों से इनके सम्पर्क को उजागर करना आवश्यक है। सम्पर्क में आए अन्य समकालीन नाम ये हैं—

1. **सन्त गरीबदास**—ये गरीबदास, सन्त दादूदयाल के पोष्य शिष्य-पुत्र माने जाते हैं। दादूजी के चोला-त्याग के बाद ये ही सर्वप्रथम दादू-गादी पर आसीन हुए थे। ये, सुन्दरदास से आयु मे बडे थे। किन्तु, सुन्दरदासजी से इनका पहला सम्पर्क बड़ा अरुचिकर माना जाता है। दादू दरबार में ग्यारह वर्षीय बालक सुन्दर का इनसे जब

पहला परिचय हुआ था, जिसे सुन्दरदासजी जीवन-पर्यन्त नही भूले। किशोर हो रहे बालक सुन्दर के मन पर गरीबदास की व्यग्य एवं उपहास भरी उक्ति ने सुन्दर के स्वाभिमान को जो ठेस पहुँचाई थी, उस ठेस की चोट ने ही बालक के सहज मन को, आशु कवि बनने के लिए प्रेरित किया था। तब सभाजनों के बीच, उसी सभा मे, बालक सुन्दर ने जो छन्द रचकर सुनाया था, उससे सुन्दरदास के आन्तरिक व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उस छन्द की दो पंक्तियाँ इस प्रकार है—

कूडा बचन जिन्होंने भाष्या, बिल्ली मरै न मूंसे से।
जन सुन्दर अलमस्त दिवाना, शब्द सुनाया धूंसे से ॥

इस घटना का दुष्परिणाम यह हुआ कि जीवन भर सन्त सुन्दरदास ने, गरीबदास के प्रति कुछ भी नहीं लिखा। जबकि, अन्यों ने गरीबदास की प्रशंसा की है। दादू-शिष्य परम्परा में गरीबदास अच्छे गायक, वीणावादक, वाणी-कोशकार एवं पद-साखी रचनाकार रूप में भी जाने जाते हैं। राघवदास ने *भक्तमाल* में *भेंट के सवैये* रचकर, गरीबदास के प्रति आदरभाव की अभिव्यक्ति की है। देखिए—

दादू के पाटि दिपै दिन ही दिन, दास गरीब गोव्यंद कौ प्यारौ।

तथा—

दादूजी के पाट परि बैठाया जु आप हरि,
उपज्यौ सु बीर भरि भगति भौमि भूप है।

2. **जगजीवणदास**—ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण कुल के बताए जाते हैं, जो दादू-शिष्य-मण्डली में सम्मिलित हो गए थे। इनका सहयोग एव प्रोत्साहन ही सुन्दरदास के जीवन-निर्माण में बहुत सहायक हुआ है। दादूजी की इहलीला समाप्ति के समय, उन्होंने अपने इन्हीं प्रिय शिष्य जगजीवणदास (जगजीवनदास) को बुलाकर, आयु में सबसे छोटा होने के कारण, सुन्दर के पालन-पोषण एवं विद्याध्ययन का दायित्व सौंपा था। उस दायित्व को इन्होंने जीवनभर निभाया भी। सुन्दरदास के काशी-अध्ययन का आधार एवं सम्बल जगजीवणदास ही बने थे। इनके निरन्तर संसर्ग में रहने के कारण ही सुन्दरदास ने अपने किशोर मन में ही दादूवाणी का मर्म समझ लिया था। बदले में सुन्दरजी भी इन्हें गुरुतुल्य अग्रज मानते रहे हैं। वैसे, जगजीवणदासजी के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये पहले दादू-विचार के विरोधी थे। इनका दादू जी से शास्त्रार्थ भी हुआ था। दादूजी से ये प्रथम बार आमेर में मिले थे। तब साम्भर से दादूजी आकर आमेर में चौदह वर्षो तक ठहरे थे। उसी बीच इनके दादूजी के साथ शास्त्रार्थ हुए, ऐसा माना जाता है। तब ये प्रश्न करते थे। किन्तु दादूजी उत्तर में कोई पद सुना दिया करते थे। एक बार ऐसा ही हुआ। दादूजी ने यह पद सुनाया—

पडित राम मिलै सो कीजे।
पढ़ पढ वेद पुराण बखाने, सोइ तत्व कहि दीजै ॥

—*दादू बा.* 2, पद 193

बाद मे धीरे-धीरे ये दादू जी के सीधे-सरल एवं निर्मल स्वभाव से ये इतने प्रभावित हुए कि इनकी चेतना का सारा दर्प ही धुल गया। तभी से ये निर्मल हृदय होकर उनके शिष्य हो गए। इनका एक वाणी-संग्रह *जगजीवणदास की बानी* शीर्षक से मिलता है। दादूजी की आज्ञा से ये दौसा नगर की टहलड़ी पहाड़ी पर रहकर भजन-साधना करने लगे थे। ये सुन्दरदास के प्रति जीवन भर सहृदय बने रहे हैं। इनके जीवन का विशेष विवरण *दादू पन्थ परिचय ग्रन्थ* में मिलता है। दादू-पन्थ के विषय में इनका एक प्रसिद्ध पद है—

भाई रे पंथ पंथ क्या कहिये ॥टेक ॥
प्रकट पथ दादू का कहिये, तहां निगम गम नाहीं।
पूरण ब्रह्म जगत का कर्ता, सो है दादू मांहीं ॥

जगजीवणदास जी के सम्बन्ध मे राघवदास ने यह छन्द रचा है, जिसमें इन्हें ज्ञान-प्रवीण एवं महापण्डित बताया गया है—

महा पंडित परबीन ग्यान गुन कहत न आवै।
बाणी बहुत बिस्तरी साषि दृष्टांत सुहावै ॥
सबद कबित्व में राम राम हरि हरियौं करणा।
गुर गोबिद जस गाइ मिटायौ जामंण मरणा ॥

3. **रज्जब अली**—(सम्वत् 1624-1746 वि.)—ये सुन्दरदासजी से आयु में बड़े एवं पहले से ही दादूजी के शिष्य हो गए थे। ये पठानवंशीय लुहार थे। किन्तु सन्त-साधना और रचना के धरातल पर दादू-शिष्यों में इनका महत्त्वपूर्ण नाम है। दादू जी के देह-त्याग के समय सम्वत् 1660 में ये नरायणा में ही थे। वही इनकी बालक सुन्दरदास से भेंट हुई थी। भेंट के बाद इनकी परस्पर प्रगाढ़ता और बढ़ती रही। ये भी जगजीवणजी के निर्देशन में, सुन्दरदास के साथ विद्याध्ययन के लिए काशी गए थे। माना जाता है कि काव्य-रचना करते हुए, छन्द-रचना-कौशल की दृष्टि से रज्जब और सुन्दर में प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी। बाद के जीवन में भी सुन्दरदास, फतहपुर से सांगानेर रज्जब से मिलने गए थे। वैसे पत्र आदान-प्रदान से भी ये एक-दूसरे की ख़बर-सुधि लेते रहते थे। रचना के धरातल पर प्रतिस्पर्धा रखते हुए भी, सुन्दरदासजी मन-ही-मन रज्जब के प्रति आदर भाव रखते थे। रज्जब की छोटी-बड़ी सब मिलाकर तेरह रचनाओं का संग्रह *रज्जब बानी* नाम से मिलता है। काव्यरूपों की दृष्टि से दोनों ने, प्राय. साखी, सवैया और पदों के अतिरिक्त अरिल-त्रिभंगी आदि अन्य छन्दों मे भी रचना की है। छन्द-रचना के धरातल पर जहाँ सुन्दर को सवैया सम्राट कहा जाता

है, वहीं रज्जब को अरिल-त्रिभगी छन्द-रचना के लिए सराहा जाता है। जहाँ सुन्दर कृत रचनाओं मे शास्त्रज्ञता एव पाण्डित्य की स्पष्ट छाप है, वहीं रज्जब वाणी मे दृष्टान्त, रूपक, उपमानो का प्रयोग मौलिक एवं मन को छूनेवाला लगता है। गुरुभाई रज्जब को, सुन्दरदास ने इतना अभिन्न माना कि रज्जब के देह-त्याग की सुनकर, सुन्दरदास उस आघात को सहन नहीं कर पाए और रज्जब के बाद कुल छह माह के भीतर ही, इनका देहावसान हो गया था। विचित्र संयोग है कि सुन्दरदास ने 93 वर्ष की आयु मे, रज्जब के थाम्भा सांगानेर में जाकर ही अपना चोला छोड़ा था। आज भी वहाँ जाकर देखा जा सकता है कि दोनो की समाधि-छतरियाँ पास-पास बनी हुई हैं। दोनों के बीच रचना-कर्म की प्रतिस्पर्धा यहाँ तक पहुँच गई थी कि सुन्दर ने जहाँ अपनी वाणी मे इन्हें स्मरण नहीं किया, वही रज्जब ने भी अपने *सर्बंगी* वाणी-संकलन मे सुन्दरदास की वाणी को स्थान नहीं दिया।

4. मोहनदासजी दफ्तरी—ये दादूजी के बावन शिष्यों में गिने जाते हैं। इनकी वाणी-रचना भी मिलती है। ये दफ्तरी इसलिए कहलाते हैं कि ये अपने पूर्व जीवन मे उदयपुर राज्य में दफ्तरी का काम करते थे। दादू-द्वारे की शरण में आने पर भी इन्होंने वही काम सँभाला। इन्होंने दादूवाणी को लिपिबद्ध किया है। वैसे ये रज्जबजी के 12 शिष्यों में वरिष्ठ एवं योग्यतम शिष्य माने जाते हैं। सुन्दरदासजी के साथ इनका रचना-कर्म एवं सत्संग बहुत दिनों तक हुआ है। मोहनजी, सुन्दर-रचना में निहित काव्य एव अध्यात्म से इतने प्रभावित थे कि सुन्दरदासजी को गुरुतुल्य मानते थे। ये दोनो परस्पर पद्यमय पत्र-व्यवहार भी किया करते थे। सुन्दरदासजी भी इन्हे काव्य का मर्मज्ञ पाठक एवं सहृदय रचनाकार मानते थे। इसीलिए वे अपनी नवीनतम रचना को उनके पास भेजते थे। ज्ञान-समुद्र ग्रन्थ के सम्बन्ध में मोहनदासजी की इस उक्ति—*सुन्दर सुधा समुद्र ग्रन्थ मोहि भायौ है* का आज भी उल्लेख होता है। इससे यह कहना ठीक ही है कि सुन्दर की रचनाओं की चर्चा सुन्दरदास के जीवनकाल में ही होने लगी थी।

5-6. घड़सीदास और **नारायणदास**—ये दोनों सन्त कवि सुन्दरदासजी के साथ विद्या-अध्ययन के लिए काशी गए थे और लौटने पर ये दोनों ही सुन्दरदास के साथ, फतहपुर के जगल में गुफा (= भहरा) बनाकर एकान्त योग-साधना करते रहे थे। इन दोनों में भी नारायणदास विनम्र थे और ये स्वयं को घडसीदास का अनुगामी शिष्य मानते थे। इन दोनों के वश-परिवार एवं जन्म-स्थान के विषय मे इतनी ही जानकारी है कि ये मारवाड़ी क्षेत्र के चॉपासुर गॉव के जाट-परिवारों मे जन्मे थे और संयोग से दोनो एक साथ दादूजी के शिष्य हुए थे। शिष्य बनने पर ये मारवाड़ के ही एक गॉव कड़ेल मे थाम्भा बनाकर रहने लगे थे। यह भी प्रसिद्ध है कि सम्वत् 1710 में जब सुन्दरदास, मारवाड़ के चाँपासर गॉव में *रामति* पर थे, तभी से नारायणदास के साथ इनकी प्रगाढता बनी रही है। नारायणदास, सुन्दरदास को अपना

विद्या-गुरु भी मानते थे। एक अन्य उल्लेख के अनुसार जब जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह (शासन सम्वत् 1691-1735 वि) ने सन्त सुन्दरदास को निमन्त्रण देकर जोधपुर बुलवाया था, तब महाराज ने उन्हे जो भूमि-दान दी थी, उसे सुन्दरदास ने स्नेहवश नारायणदास को दिला दी थी। बाद में भी इन दोनों में पत्र-व्यवहार बना रहा था। एक बार मरुभूमि में भयकर परिस्थितियों में रहने के लिए सुन्दर ने उन्हे विनोद भरी भाषा में यह दोहा लिख भेजा था—

पढे थे बाराणसी, कियौ बिराहे बास।
भूँच देस में रम रहे, भले नरायणदास ॥

इसके उत्तर में नारायणदास ने यह दोहा लिखकर भेजा था, जिसमें अपनी स्थानीय सुख-सुविधाओं का संकेत करते हुए, सुन्दरदास को उन्होंने आश्वस्त किया था—

दूध दही घृत सालणां, थली भला है थोक।
ओढण ऊनार कप्पड़ा, लक्खण लावा लोग ॥

7. **प्रागदास (मृ. सम्वत् 1688)**—ये सुन्दरदासजी से आयु मे बड़े थे। इनका जन्म नरायणा कस्बे के निकट किरडोली गॉव के एक अग्रवाल वैश्य जाति-वश के धनाढ्‌य घराने मे हुआ था। किन्तु सम्वत् 1634 वि. में जब दादूजी किरडोली गॉव पधारे थे, तभी तीव्र वैराग्य भाव में डूबे हुए प्रागदास ने, उनकी शिष्यता ग्रहण कर ली थी। बाद में ये डीडवाणा आकर रहने लगे। वहीं रहते हुए सुन्दरदासजी के साथ इनका लम्बे समय तक सम्पर्क बना रहा। फिर ये सुन्दरदासजी से मिलने फतहपुर थाम्भे पर भी गए थे। वहीं रहते हुए सम्वत् 1688 वर्ष मे इनका देहावसान हो गया। इन्होंने अपनी रचनाओं में सुन्दरदासजी को बड़े आदर भाव से स्मरण किया है। सुन्दर के सम्बन्ध में उनकी ये दो पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

संवत् सोलासै वर्ष अठ्यासी मैं दास प्रयाग फतहपुर आयो।
भ्रात कनिष्ट सु सुन्दर तिष्ठत, योग की अग्नि से कर्म जरायो ॥

8-10. **सन्तदास, चतुरदास तथा भीखनजी**—इन तीनों की ही गिनती दादूजी के 52 शिष्यों की मण्डली में की जाती है। ये तीनों ही साधक-सन्त होने के साथ-साथ रचनाकार भी थे। इन्होंने सुन्दरदासजी के साथ, फतहपुर भहरे में रहते हुए, बारह वर्ष तक योग-साधक तप किया था। इनके साथ-साथ रहने का एक प्रमाण यह भी है कि सुन्दरदास के फतहपुर थाम्भा-क्षेत्र में इनकी समाधि आज भी विद्यमान है, जिन पर इनके नाम के शिलालेख लगे हुए हैं। इन तीनो मे प्रभूत रचना करनेवाले सन्तदासजी ही थे, जिन्होने 12 हज़ार अनुष्टुप छन्दों की रचना की थी। इसीलिए इन्हें *बारह हजारी* भी कहा जाता है। इनके जीवन मे, जीवित-समाधि लेना

भी एक उल्लेखनीय घटना रही है। कहा जाता है कि अपनी समाधि के लिए इन्होंने स्वय खड्ड (गड्ढा) खोदा था। सम्वत् 1686 में इनके समाधि लेने के अवसर का, सैकड़ो श्रद्धालुओ के साथ, फतहपुर के नवाव अलफख़ॉ का बेटा दौलतख़ाँ भी प्रत्यक्षदर्शी रहा था। यह बात सन्तदास की समाधि-छतरी के शिलालेख मे खुदी हुई है। सन्तदास जी के समान ही चतुरदास (चत्रदास, चतरदास) भी सुन्दरजी के शिष्य-मित्रो में गिने जाते हैं। इन्होंने श्रीमद्‌भागवत के *एकादश स्कन्ध का, भाषा* शीर्षक से सम्वत् 1692 में, भाषा-छन्दों में अनुवाद किया था। यह अनुवाद प्रकाशित रूप में आज भी उपलब्ध है। तीसरे सन्त रचनाकार भीखनजी है, जो सन्तदासजी के शिष्य और सुन्दरजी के प्रति सदा श्रद्धालु बने रहे थे। ये फतहपुर के ही एक ब्राह्मण-परिवार में जन्मे थे। किन्तु, उस परिवार को महाब्राह्मण वर्ग का गिना जाने के कारण, हीन समझा जाता था। इसीलिए इन्हें मन्दिर-प्रवेश भी नहीं करने दिया जाता था। इस मानसिक परिताप के कारण दुःखी होकर ये सन्तदासजी की शरण में आकर उनके शिष्य हो गए थे। इनकी एक रचना *भीषन बावनी* आज भी उपलब्ध है। इसमें कुल 53 छन्द हैं, जिनमें नीति-प्रधान विषयों पर रचना है। यह रचना सम्वत् 1683 वि. की मानी गई है। इस रचना में नागरी वर्णो को आधार बनाकर, एक-एक वर्ण पर जीवनोपयोगी शिक्षा देते हुए रचनाकारा ने, लोक में अक्षर-ज्ञान कराने के ध्येय से, आध्यात्मिक चेतना के विकास का उद्देश्य साधा है। प्रस्तुत उदाहरण के एक छप्पय छन्द में भीखनजी के आत्म-कथ्य के साथ ही, *बावनी* के रचना-वर्ष का उल्लेख है—

संबत सौलह सै जु बरस जब हुतौ तियासी।
पौष माह पष सेत हेत दिन पूरणमासी ॥ आदि-आदि ॥

भीखनजी की *बावनी*-रचना पर राघवदास का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—

भीष बावनी प्रसिद्ध सु तौ सारे जग होई।

इस प्रकार फतहपुर में रहते हुए, सुन्दरजी के साथ सत्संग-समागम करते हुए ही इन सबका जीवन व्यतीत हुआ है।

11-12. **बखनाजी एवं बाजींदजी**—इन दोनो के नाम दादू-शिष्यो में तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, सन्त-रचनाकारों मे भी बड़े सम्मान से इनका उल्लेख मिलता है। इन दोनों का सुन्दरदासजी के साथ गहरा एवं निकट का सम्बन्ध रहा है। ये भी फतहपुर-गुफा के साधक रहे है। बखनाजी जाति के मीरासी मुसलमान थे और गान-विद्या मे निपुण थे। इनकी रचना में राजस्थानी, ढूँढ़ाहडी एव मारवाड़ी क्षेत्र की बोलियो के प्रचुर शब्दो का प्रयोग देखने को मिलता है। रचना में साखी एवं पद दोनो ही मिलते हैं। इनका अपने प्रारम्भिक जीवन में ऐसे ही गाते-फिरते रहना और पेट भरना ही लक्ष्य था। अचानक एक दिन दादूजी ने इनका एक पद सुना और प्रभावित

होकर प्रभु-गुणगान की ओर इन्हें प्रेरित कर दिया। तब से बखनाजी की जीवनचर्या ही बदल गई। सुन्दरदासजी ने *बखना-वाणी* का उल्लेख किया है। उधर, जनगोपालजी ने अपने *दादू जन्मलीला* ग्रन्थ मे बखनाजी की गान-विद्या को सम्मान देते हुए, उन्हें—गान-विद्या गन्धर्व तक कहा है। मर्मस्पर्शिनी वाणी के कारण ही इन्हें राघवदासजी ने अपने *भक्तमाल* में *बानैत बड़* (शब्द-संधायक, तीरदाज़) कहा है।

उधर, बीजींद (= बाजिद) भी सुन्दर के समकालीन एवं वाणी-रचनाकार थे। इनका जन्म पठानवशीय मुसलमान परिवार में हुआ था। इनका पूर्व जीवन, शिकार जन्य हिसा-कर्म में ही बीतता था। एक हिरणी के बध के समय जागृत हुई इनकी आत्म-ग्लानि ने इन्हें दादूजी की शरण मे भेज दिया था। दादू-दरबार के विचार-सत्संग से प्रभावित होकर ये दादू के शिष्य हो गए। वहाँ का सन्त-विचार पाकर इनके मन में सोयी पड़ी कविता-चेतना, वाणी बनकर स्फुरित होने लगी। प्रसिद्ध है कि वाणी-रचना में इनका अरिल छन्द रचने पर अधिकार रहा है। अरिल छन्दो में हुई रचना के अतिरिक्त भी इनकी रची प्रभूत सन्त-वाणी मिलती है। इनके सम्बन्ध में, इनके पूर्व जीवन-क्रम को संकेतित करनेवाला, राघवदास का यह छन्द प्रसिद्ध है—

छांडि कैं पठांण कुल राम नांम कीनों पाठ,
भजन प्रताप सौ बजींद बाजी जीत्यौ है।
हिरणी हतत उर डर भयौ भय करि,
सील भाव उपज्यौ दुसील भाव बीत्यौ है ॥

13. राघवदास जी—भक्तमाल के रचयिता राघवदास, आयु मे सुन्दरदास से छोटे थे। ये प्रह्लाददास के शिष्य थे। अपने गुरु की आज्ञा से ही इन्होने *भक्तमाल* की रचना सम्वत् 1770 में पूर्ण की थी। ये क्षत्रिय जाति-वंश में पैदा हुए थे और दीर्घायु पाकर दिवंगत हुए थे। कुछ समय तक ये सुन्दरदास के समकालीन रहे थे। इनकी सत्संग-बैठकें, सन्त सुन्दरदास के समान ही, अन्य बहुत से सन्तों के साथ हुई थीं। भक्तमाल में इन्होंने सुन्दरदास के सम्बन्ध, बड़े सम्मान के साथ कई छन्दों की रचना की है। उसी प्रसंग में इन्होंने सुन्दरदास के कई शिष्यों का भी वर्णन किया है। सुन्दरदास विषयक इनके निर्णायक उल्लेख, एक समीक्षक की प्रतिभा को ही रेखांकित करते हैं। ये उल्लेख प्रत्यक्षदर्शी के से लगते हैं। समाज, साहित्य, दर्शन एव सन्त-चेतना की दृष्टि से किया गया सुन्दरदास का योगदान, उन्हें आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित करता है। इसी बात को राघवदास ने, कई शताब्दियों पूर्व, चिन्तन-निष्कर्ष एवं भाषा-काव्यों के रचयिता के रूप में, सुन्दरदास को दूसरे *शंकराचार्य* के सम्मान-भाव के साथ निरूपित करते हुए, अपने विचारों को, एक छप्पय छन्द में इस प्रकार रेखांकित किया है—

द्वैत भाव करि दूरि एक अद्वैतहि गायौ।
जक्त भक्त षट दरसन सबन कै चाणक लायौ ॥
अपणौ मत मजबूत थप्यौ अरु गुरु पखि भारी।
आन धर्म करि खंड अजा षट तैं निरवारी ॥
भक्ति ज्ञान हठ साख्य लौ, सब सास्त्रहि पारहि गयौ।
सक्राचारज दूसरौ दादू कैं सुन्दर भयौ ॥

राघवदास ने, सुन्दरदास के वाणी-व्यक्तित्व के विषय में कुल तीन कवित्त लिखे है—1. दादू जी के पन्थ में सुन्दर सुखदाई सन्त, 2. द्यौसा है नगर चोखा बूसर है साहूकार, 3. आयौ है नवाब फतेहपुर में लाग्यौ पाय। इनके अतिरिक्त भी अन्य कई छन्दों में राघवदास ने सुन्दरदास का सोद्देश्य उल्लेख किया है, जिनमे सुन्दरदास के वाणी-विचार अथवा व्यक्तित्व-कृतित्व की सही व्यजना होती दिखाई देती है। एक उदाहरण और देखिए—

इम राम रजा रजबसी बड़ौ, सति सुन्दरदास जी पथ मै पूरौ।
गोपि रह्यौ पसर्‌यौ न पसारे मैं, न्यारे मैं उपज्यौ ग्यांन अंकूरौ ॥

14. जनगोपालजी—दादूजी के बावन शिष्यो मे जनगोपालजी का नाम आदर से लिया जाता है। ये सुन्दरदासजी के समकालीन थे। इन्होने सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे *दादू जन्म लीला ग्रन्थ* की रचना की थी। इसमें सुन्दरदासजी का उल्लेख ज्ञानी सन्त रचनाकार के रूप में किया गया है। इनकी रचित वाणी और कुछ कथाकाव्य मिलते है। इनका जन्म आगरा के निकट फतहपुर सीकरी के एक वैश्य परिवार में हुआ था। इनके विषय में *भक्तमाल* में कई सवैया छन्द मिलते हैं। कुछ पक्तियॉ इस प्रकार है—

सन्यासी स्वरूप धारे फिरत जगत मांहि
बिन ग्यान पाये नहि उर में प्रकाश जू।
सीकरी सहर मांहिं मिले हैं जनगोपाल
भये किरपाल गुरुदेव दादूदास जू ॥

अथवा

पद ग्रथ टकसाली भावत दयाल छाप
प्रेम भक्ति धारी वैश्य कुल को उजार्‌यो हे।

15. जैन कवि बनारसीदास (सन् 1556-1643)—*अर्धकथानक* के लेखक जैन कवि बनारसीदास की मैत्री सन्त कवि सुन्दरदास से थी, यह लोक प्रसिद्ध है। प्रायः समकालीन होने एवं आगरा-निवास में परस्पर भेंट होने अथवा उनसे पत्र-व्यवहार की सभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। इधर, सुन्दरदास के एक

गुरुभाई जनगोपाल जी आगरा के निकट फतहपुर सीकरी के ही निवासी थे। मान्यता यह है कि बनारसीदास, सुन्दरदासजी के काव्य-कौशल, ज्ञान-साधना, योग-विचार के अधिकारी होने तथा त्यागी-तपस्वी एवं ब्रजभाषा काव्य-लेखन में यशस्वी होने के कारण, प्रभावित हुए थे। वैसे बनारसीदास जैन की रचनाओं का संग्रह, निर्णय सागर प्रेस से, *बनारसी विलास* शीर्षक से सन् 1905 मे प्रकाशित हो चुका है। साथ ही यह भी कि इस सग्रह का मूल सम्पादन बहुत पहले अर्थात् उनकी मृत्यु सन् 1643 ई. से पहले, जगजीवनदासजी द्वारा हो चुका था। उस सग्रह में नाटक *समयसार, ज्ञान बावनी, सूक्ति मुक्तावली, अर्ध-कथानक* आदि छोटी-बडी 57 रचनाएँ संकलित हैं। *समयसार* नाटक का रचना-वर्ष सन् 1636 माना जाता है। यह नाटक मनीषी आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य रचित *समयसार* का भाषा रूपान्तरण है। यह आगरा-निवास काल की रचना है। इसी प्रकार *सूक्ति मुक्तावली,* सोमप्रभाचार्य रचित संस्कृत ग्रन्थ *सिन्दूर प्रकाश* का भाषा मे भावानुवाद है। यह सन् 1634 की रचना है। *ज्ञानबावनी* सन् 1629 ई. की रचना है। इन रचनाओं का वाक्य-विन्यास, छन्द-प्रवाह एवं प्रतिपाद्य विषय, सुन्दर-वाणी के प्रतिपाद्य से बहुत कुछ मेल खाता है। दोनों के प्रगाढ सम्बन्धों के विषय में मान्यता है कि दोनों में पद्यमय पत्र-व्यवहार हुआ करता था। कहा जाता है कि एक बार बनारसीदास ने *कीच सौ कनक जाकै, नीच सौ नरेस पद*...ऐसी जाकी रीति ताहि वन्दत बनारसी, यह एक कवित्त लिखकर सुन्दरदास जी के पास भेज दिया था। इसके उत्तर में सुन्दरदास जी ने तीन छन्दों की रचना की, जिन्हें अलग-अलग समयों पर, बनारसीदासजी को भिजवाया था। उनमें से एक पूरा कवित्त यहाँ प्रस्तुत है। यह छन्द सुन्दरदासजी के मानस-व्यक्तित्व की पूरी झलक प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ है—

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और
चित्त सौ न चन्दन सनेह सौ न सेहरा।
ह्रदै सौ न आसन सहज सौ न सिंघासन
भाव सी न सौंज और शून्य सौ न गेहरा॥
सील सौ सनान नाहिं ध्यान सौ न धूप और
ज्ञान सौ न दीपक अज्ञान तम के हरा।
मन सी न माला कोऊ सोहं सौ न जाप और
आतम सौ देव नाहिं देह सौ न देहरा॥

दोनों की छन्द-शैलियों में, दोनों की मानस-भाव-भूमिका द्रष्टव्य है।

16. **नवाब अलफख़ाँ**—यह बात सुन्दरदासजी की जीवनी से स्वतः सिद्ध है कि उनके जीवन का अधिकांश समय फतहपुर कस्बे में ही व्यतीत हुआ था। वहीं उनका बहुत बड़ा परिचित-परिवेश मौजूद था। अनेक सन्त-महात्मा, कवि-रचनाकार

वहीं उनसे मिलने, निर्देश पाने के लिए आते-रहते थे। वैसे भी सुन्दरजी का सन्त स्वभाव, मिलनसारिता, विद्या-व्यसन, ज्ञान-ध्यान का अभ्यास, काव्य-चातुरी, छन्द-रचना एव भाषाधिकार ऐसे प्रसग है, जिनके प्रति सहृदय जन सहज ही उनके प्रति आकर्षित बने रहते होंगे। यही कारण है कि फतहपुर के तत्कालीन नवाबों पर, सुन्दर के व्यक्तित्व एव कृतित्व की गहरी छाप रही है। वैसे भी, ये नवाब अपनी वंश-परम्परा मे कायमख़ानी चौहान वशीय खानदानी नवाब माने जाते है। इनके पूर्वजो के विषय में मान्यता है कि मोटा राज नामक क्षत्रिय चौहान का बेटा करणसिह, फीरोज़शाह तुगलक (शासनकाल सन् 1351-1388 ई.) के समय सन् 1384 ई. मे मुसलमान बन गया था। तब उसका नाम कायमख़ॉ रखा गया था। तभी से कायमखानी वंश चल पडा। अपने धर्म-परिवर्तन के समय कायमख़ॉ को हिसार का सूबेदार बनाया गया था। इसके दो बेटे हुए ताजख़ॉ और फतहख़ाँ। बाद में फतहख़ॉ ने फतहपुर नगर बसाया था। उसी के वंश मे अलफख़ॉ, दौलतख़ॉ, ताहरख़ाँ और सरदारख़ॉ आदि नवाब हुए हैं। दौलतखॉ ने बाद में फतहपुर नगर में क़िला बनवाया था। सुन्दरदास का आगमन फतहपुर में अलफख़ाँ के समय में हुआ था। अलफख़ाँ से इनकी अच्छी संगति रही थी। क्योंकि यह बहादुर शूरवीर होने के साथ-साथ अच्छा कवि भी था। पर, यह अलफख़ाँ सन् 1636 के तलबाड़े के युद्ध में मारा गया। अलफख़ाँ का कवि-उपनाम जान कवि था। इसकी चार लघु रचनाएँ हिन्दी मे मिलती है—*रत्नावली, सतवन्ती सत, मदन विनोद* तथा *कवि वल्लभ*। इनका रचनाकाल सन् 1613 से 1647 के बीच माना जाता है। इस कालावधि मे सुन्दरदास फतहपुर में ही ठहरे थे। रचनाधर्मी सगोत्रता एवं साधु स्वभाव के कारण ही अलफखाँ, सुन्दरदास का भक्त-अनुयायी हो गया था। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी दौलतखॉ के प्रति भी सुन्दरदासजी का सहज स्नेह बना रहा था। भक्तमाल के रचनाकार राघवदास ने, सुन्दरदास द्वारा दौलतख़ाँ को चमत्कार दिखाने की बात भी कही है।

उक्त सभी समकालीनों के अतिरिक्त युवक सुन्दरदास का सम्पर्क गोस्वामी तुलसीदास एवं आचार्य कवि केशवदास से होने की भी बात साहित्य-इतिहास मे कही जाती है। तुलसीदास जी (सम्वत् 1589-1680 वि.) का अधिकांश जीवन काशी में ही बीता था और इनका रचनाकाल प्राय· सम्वत् 1620 से 1670-75 के बीच माना जाता है। इधर, सुन्दरदासजी (सम्वत् 1653-1746) का प्रायः संवत् 1663-82 के बीच काशी-निवास रहा है। इन 18-20 वर्षो में गगा के उसी असीघाट पर रहनेवाले युवक विचारक कवि सुन्दरदास ने ज्ञान-परिपक्व तुलसीदासजी से जिज्ञासावश अनेक बार सत्संग किया होगा, ऐसी संभावना है। गोस्वामी जी का देह-त्याग वर्ष सम्वत् 1680 (सम्वत् सोलह सौ असी, असीगग के तीर) माना जाता है। दादूजी के

ब्रह्म सम्प्रदाय का विचार-पक्ष तब तक काशी मे पहुँच चुका था। दादूजी की ज्ञान-भक्ति का विचार, किसी प्रकार भी भक्ति-विरोधी नहीं था। वैसे भी, तुलसी द्वारा रचित विभिन्न काव्य शैलियों की स्पष्ट छाप, सुन्दर की छन्द-रचना पर देखने को मिलती है।

उधर, आचार्य केशवदास (सम्वत् 1608 अथवा 1612-1674 वि.) के समय बालक सुन्दर की आयु बहुत कम रही होगी। दूसरी बात यह है कि *रामचन्द्रिका* की रचना करने के बाद भी, केशवदास शृंगारी विचारधारा के कवि-आचार्य माने जाते हैं। उधर, सन्त-चेतना के धनी युवक कवि सुन्दरदास को शृंगारी-रचना, समाज के लिए अहितकर लगती थी। अतः राम-रस के सागर मे अवगाहन करनेवाली सुन्दरदास की काव्य-चेतना, *रसिकप्रिया* के रचनाकार केशव के प्रति आकर्षित नही हो सकती थी। यह भी प्रायः निश्चित है कि सुन्दरदास ने केशवदास की प्रायः सभी रचनाओं का पारायण किया होगा और यह भी निश्चित है कि सुन्दरदास शृगार रस सम्बन्धी विचार एवं रसिकता प्रतिपादक केशव के दृष्टिकोण का प्रतिवाद करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में शृंगारी प्रवृत्ति का प्रचार, लोक-संग्रह की दृष्टि से, बहुजन समाज की मनोवृत्तियों को कमजोर ही बनाता है। सुन्दर-वाणी में ही नहीं, समूचे सन्त-दृष्टिकोण मे भोगवादी शृंगारी प्रवृत्ति का खुलकर विरोध मिलता है।

सुन्दर-वाणी के समीक्षक–सुन्दर-वाणी की प्रारम्भिक समीक्षा तो प्रायः दादू-शिष्य मण्डली के सदस्य एव सुन्दरदास के अनुयायी शिष्य मित्रों–सत्संगियों ने ही की है। इनमें *भक्तमाल* के रचनाकार राघवदास का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है, जिन्होने सुन्दर-वाणी के आधार पर रचनाकार की विद्वत्ता, अर्थ-गम्भीरता एव दार्शनिक चिन्तन के पक्षों को छन्दबद्ध करके प्रस्तुत किया है। वाणी-विचार के इतिहास मे उनकी यह समीक्षा-दृष्टि महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इसके लिए उन्होंने *भक्तमाल* मे छन्द-सख्या 419–26 तक के छन्दों की रचना की है। इन छन्दों में सुन्दरदास की पारिवारिक से लेकर साधनात्मक स्थितियों तक को उभारकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। दार्शनिक-विचार की दृष्टि से उन्होंने ही सुन्दरदासजी को, भाषा-काव्यों में 'दूसरा शंकराचार्य' कहकर उनकी अभ्यर्थना की है। छन्द-रचना एवं काव्य-कौशल के मर्म को समझनेवाला बताते हुए एक अन्य छन्द में उन्होंने सुन्दर को काव्य-कला निपुण कहा है। देखिए–

> बुधि बिबेक चातुरी ग्यांन गुर गमि गरवाई।
> क्षमा सील सत्यता सुहृदय संतन सुखदाई ॥
> गाहा गीत कवित्त छद पिगुल हिं प्रवानैं।
> सुन्दर सौं सब सुगम काव्य कोइ कला न छांनैं ॥

राघवदासजी के समान ही, सन्तदासजी के शिष्य बालक रामजी ने, जो

सुन्दरदासजी को गुरुवत मानते थे, उनकी वाणी का बहुत सम्मान किया है। उन्हें दार्शनिक विचारक एवं साख्य-योग और भक्ति-ज्ञान मे पारगत बताते हुए, शब्द-ब्रह्म का साधक बताया है। साथ ही सुन्दर-व्यक्तित्व की कई अन्य विशेषताओं को भी उन्होने रेखाकित किया है। उनका एक छप्पय छन्द देखिए—

सतगुरु सुन्दरदास जगत में पर उपगारी।
धन्नि धन्नि अवतार सब कला तुम्हारी ॥
सदा येक रस रहै दुष्ष द्वन्दर को नाहीं।
उत्तम गुन सों आहि सकल दीसै मन मांहीं ॥
साषि जोग अरु भक्ति पुनि सब ब्रह्म संजुक्ति है।
कहि बालक राम बबेक निधि देषै जीवन मुक्ति है ॥

इसी प्रकार महन्त सन्तोषदास के शिष्य चतुरदास (= चत्रदास) ने भी सुन्दर-वाणी की प्रशसा मे छन्द रचे है। उन्होने सुन्दर-वाणी की सुरक्षा कई प्रकार से कही है, कुछ लिखकर और कुछ अनुपलब्ध रचनाओं को खोज कर, इकट्ठा करके। इनकी एक बडी खूबी यह रही है कि इन्होने भक्तमाल के छन्दो की टीका छन्दों में ही की है। वही, इन्होंने सुन्दरदास सम्बन्धी छन्दों के साथ, अपनी टिप्पणी भी दी है। उदाहरण के लिए राघवदास कृत पक्ति देखिए—दादूजी के सिषन मे यौं सुन्दर बूसर जांनिये, के बाद चतुरदास की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय है—

जगत भगत बिष्यात पै चातुरजन अैसै कही।
सब कबियन सिरताज है, दादू सिष सुन्दर मही ॥

सुन्दर-वाणी की पद्यबद्ध स्वीकृति का अन्तिम छोर, स्वामी नारायणदास के शिष्य स्वामी धनराम द्वारा रचित सम्वत् 2045 वि. का *सुन्दर-वाणी माहात्म्य शतक* है। इसी में सुन्दरजी का सक्षिप्त जीवन-चरित भी दिया गया है। स्वामी नारायणदास ने सुन्दर-वाणी के महत्त्व को, सम्वत् 2005 की कार्तिक शुक्ला अष्टमी-नवमी को नारायणा, दादू-धाम में, सुन्दर-स्मृति उत्सव पर, प्रमुख व्यक्तियो के बीच, पच्चीस पद्य बनाकर प्रतिपादित किया था। तब, उस सभा का सभापतित्व सन्त बिनोवा भावे ने किया था। उन्हीं मे से एक दोहा और एक कवित्त यहाँ प्रस्तुत है—

दोहा— सुन्दर बाल कवीश की कविता छिपी न लेश।
नारायण उपदेश से, लाभ उठाता देश ॥

कवित्त— विज्ञ जन संमत सु काव्य के मर्मज्ञ विज्ञ,
जाकी कविता का अति उन्नत विचार है।
उन्नति के बाधक शृंगार के विरोधी सच्चे,
केशव शृंगारी के सु मारी फटकार है ॥

बिपर्यय चौबोला गूढार्थ आदि नारायण,
जाकी कूट रचना का प्रकट प्रकार है।
और चित्रकाव्य की विचित्रता विचार किये,
सिद्ध होते सुन्दर प्रसिद्ध कलाकार है ॥

स्वामी धनराम ने सुन्दर-वाणी के प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में अपनी राय इस प्रकार दी है–

अपने अपने पक्ष का करते सब निर्देश।
सत्य कथै सुन्दर गिरा, पक्ष न भासत लेश ॥

इधर, उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शती के प्रथम चरण और उसके बाद सुन्दर-वाणी की समीक्षा, साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, सम्यक् रूप से होती रही है। पाठकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए सुन्दर-वाणी के छोटे-मोटे संकलन तथा सन्तों के बानी-सग्रहों में *सुन्दर-वाणी* का संचयन लगातार होता रहा है। वास्तव मे साहित्यिक दृष्टि से निरख-परख का प्रारम्भ, साहित्य-इतिहास-लेखनों से ही हुआ है। उदाहरण के लिए *मिश्रबन्धु विनोद* (प्रका. वर्ष सन् 1913) में सुन्दरदास का उल्लेख एक रचनाकार के रूप में ही था, भक्ति अथवा भक्त की दृष्टि से नहीं। वहाँ उन्हें उत्कृष्ट कवि के साथ ही दादू विचारधारा के अनुयायियों में सर्वोत्तम और सुकवि कहा गया है। साथ ही उनकी रचना में भाषा-अलंकरण की प्रवृत्ति को भी रेखांकित किया है। पर, सुन्दर-वाणी की विधिवत् समीक्षा का सही आकलन हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के *हिन्दी साहित्य* का इतिहास (प्र. प्रका. वर्ष सन् 1927-28) में ही देखने को मिलता है। आचार्य शुक्ल ने, अपनी दृष्टि के आग्रह के अनुरूप ही, सुन्दर-वाणी पर अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं–

"निर्गुण पन्थियों में ये (सुन्दरदास) ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्य कला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञान-चर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुन्दर पद्य कहे है।...छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रन्थ हैं। पर, *सुन्दर विलास* ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमे कवित्त सवैये ही अधिक हैं।...सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होने और निर्गुणवादियों के समान लोक धर्म की उपेक्षा नहीं की है। पतिव्रत का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्यपालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिए पूरी जगह थी।"

हिन्दी-सन्त काव्यधारा पर सन् 1934 मे प्रथम शोध ग्रन्थ और वह भी अंग्रेज़ी में लिखनेवाले डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने, अपनी पुस्तक *निर्गुन स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोइट्री* (*हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय,* अनुवाद) में सन्त सुन्दरदास का उल्लेख इन

शब्दो मे किया है—"दादू के कुल 108 चेले थे, जिनमे सुन्दरदास सबसे प्रसिद्ध हुआ। ...सुन्दरदास का गुरुभाई जगजीवनदास उसे काशी ले आया, जहाँ उसने अठारह वर्ष तक व्याकरण, दर्शन और धर्मशास्त्र की शिक्षा पाई। निर्गुण सन्तो में वही एक व्यक्ति है, जिसे पोथी-पत्रो की शिक्षा मिली थी।. .छोटे सुन्दरदास ने *ज्ञान समुद्र* और *सुन्दर विलास* ये दो प्रमुख ग्रन्थ लिखे है। इनकी साखियो और पदो की संख्या काफ़ी है।

बंगाल के आचार्य एवं सत-साहित्य मर्मज्ञ क्षितिमोहन सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *मेडीवल मिस्टीसिज़्म ऑफ़ इण्डिया* (प्र.' प्रका. वर्ष सन् 1929) में, दादूजी के ब्रह्म सम्प्रदाय पर विचार करते हुए, सुन्दरदास के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य यह लिखा है—'*सुन्दरदास हू वाज़ ए वेदान्तिक, बीअर्स टेस्टीमनी टु द यूनिवर्सैलिटी ऑफ़ दादू पाथ*।'

इनके अलावा पुरोहित हरिनारायण शर्मा का नाम सुन्दर-वाणी सकलन एवं अध्ययन के क्षेत्र में शताब्दियो तक याद किए जाने का अधिकारी है। आपने सुन्दर-वाणी के अनुपलब्ध पक्षों को, अनेक स्रोतों से प्रयत्नपूर्वक एकत्र करके तथा चालीस वर्षो तक अनथक परिश्रम करते हुए, बड़ी निष्ठा के साथ, दो खण्डो में *सुन्दर ग्रन्थावली* का प्रकाशन (प्र. प्रका. वर्ष सन् 1936) कराया था। यही नहीं, इन्होंने अपनी भूमिका समीक्षा में, हिन्दी के अनेक बड़े कवियों के साथ तुलना करते हुए सुन्दरदास को महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बताया है। भक्ति-साधना-साहित्य में, अन्य मनीषी सन्त कवियों के बीच, सुन्दर का स्थान उन्हीं के शब्दों मे पढ़िए—

"कविवर महात्मा स्वामी श्री सुन्दरदासजी की ख्याति, भाषा-ससार में कवि सम्राट श्री तुलसीदासजी, सूरदासजी, योगिश्रेष्ठ श्री गोरखनाथजी, अध्यात्म रहस्य पारगत श्री कबीरजी, भाषा-ज्ञान विशारद् कवि श्री केशवदासजी तथा तत्वज्ञानामृत प्रवाहक स्वामी श्री दादू दयालजी के अनन्तर सम्मान्य और फैली हुई है।.. काव्य-रचना बाहुल्य मे, दादूदयाल जी के शिष्यों मे ही नहीं, भाषा वाङ्मय के सिद्धहस्त रचनाकारों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी अपनी निराली और सुन्दर कविता शैली मे, सुन्दरदासजी अनेक बातों में निराले, एकाकी और अद्वितीय है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कबीरादि सन्तों की वाणी के प्रति बहुत समय से अपनी निष्ठा अर्पित करते रहे हैं। सन् 1936 मे उन्होंने अपने अभिन्न मित्र क्षितिमोहन सेन के कहने पर, सुन्दर-वाणी का अंशतः पारायण किया और प्रभावित होकर पुरोहितजी द्वारा सम्पादित *सुन्दर ग्रन्थावली* की भूमिका के प्राक्कथन रूप मे (बाङ्ला में) सन्त कवि सुन्दरदास के विषय में अपनी राय इस प्रकार प्रकट की है। उसी का अंश मात्र यहाँ प्रस्तुत है—

"कोई भी भाषा अपने साहित्य की दृष्टि से अपने प्रति श्रद्धा आकर्षित कर सकती है। इस प्रकार का विशेष महत्त्व हिन्दी-भाषा के साहित्य मे यथेष्ट रूप में

पाया जाता है। मध्ययुग के साधक कवियों ने, हिन्दी-भाषा में जिस भावधारा का ऐश्वर्य विस्तार किया है, उसमें असाधारण विशेषता पाई जाती है। ..स्वच्छ जल का स्रोत जिस प्रकार पृथ्वी के गर्भ से, अपने आन्तरिक वेग के साथ, स्वत· ही उत्सारित होता रहता है, उसी प्रकार इन कवियों की भावधारा अपने शुद्ध आनन्द की प्रेरणा से स्वतः प्रवाहित हुई है। इस प्रकार के साधक कवियो में एकमात्र सुन्दरदास ही शास्त्रज्ञ पण्डित थे। वे केवल कवि ही नहीं थे, बल्कि एक अनुसन्धानकर्ता भी थे।"

डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने *हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास* (प्रकाशन वर्ष सन् 1938) में सुन्दरदास के विषय में लिखा है—"ये बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। हिन्दी, पजाबी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत और फारसी पर समान अधिकार रखते थे। संस्कृत के पण्डित होते हुए भी ये हिन्दी में कविता लिखते थे।. ..इनके पर्यटन ने इनके अनुभव को और बढ़ावा दिया था।...सुन्दरदास, दादूदयाल के आयु में सबसे छोटे शिष्य थे, पर प्रसिद्धि में सबसे बडे।"

हिन्दी काव्य सग्रह (प्रकाशन वर्ष सन् 1939) के सम्पादक गणेश प्रसाद द्विवेदी ने सुन्दरदास के विषय में लिखा है—"सन्त कवियों में ये ही ऐसे थे, जिनकी शिक्षा और प्रतिभा दोनों ही विलक्षण थीं। प्रथम श्रेणी के कवियों के समकक्ष इन्होंने अनेक कवित्त-सवैये रचे हैं। भाषा इनकी सुन्दर मँजी हुई सुव्यवस्थित, पर ईषत राजस्थानी रंजित ब्रजभाषा है।"

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ *उत्तरी भारत की सन्त परम्परा* (प्रकाशन वर्ष सन् 1951) में सुन्दरदास के सम्बन्ध में लिखा है—"दादू पन्थ के प्रसिद्ध अनुयायियों में सबसे अधिक जानकारी अभी तक इन सुन्दरदास के सम्बन्ध में ही प्राप्त हो सकी है। इनके सभी ग्रन्थ सुन्दर ग्रन्थावली के अन्तर्गत बड़े अच्छे ढंग से सम्पादित किए जा चुके हैं।"

सन्त-वाणी रूप में *सन्त सुधा सार संग्रह* (प्र. प्रका. वर्ष सन् 1953) में, सहृदय समीक्षक वियोगी हरि जी ने सुन्दरदास के विषय में लिखा है—"भाषा पर इस महाकवि का पूरा अधिकार था।...भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं के कितने ही शब्द इनके काव्यों में मिलते हैं। फ़ारसी के भी अनेक शब्दों का मुक्त प्रयोग इनकी वाणी में हुआ है।"

डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने अपने शोध-समीक्षा ग्रन्थ *सुन्दर दर्शन* (प्रकाशन वर्ष सन् 1953) में सुन्दरदासजी के विषय में लिखा है—"संसार से विरक्त, ब्रह्म से सच्ची अनुरक्ति तथा मानव समाज से सहानुभूति के भावो ने इन्हें आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अग्रसर किया। सुन्दरदास अपनी साधना में सदा दृढ़ रहे।. ..समाज से बहिष्कृत एव फिर उपेक्षित अंत्यजों के उद्धार के लिए भी सुन्दरदास ने भगीरथ प्रयत्न किए। हिन्दू-मुसलमान, कुलीन-अंत्यज, उच्च-नीच सभी उनके जीवन-दर्शन एवं उच्चादर्शो से प्रभावित हुए हैं।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ *हिन्दी-साहित्य* (प्रकाशन वर्ष सन् 1969) मे लिखा है—"सुन्दरदास का अनुभव विस्तृत था। देशान्तर घूमा हुआ था। जब कभी वेदान्त का तत्त्वज्ञान छोड़कर वे अन्य विषयो पर लिखते थे, तव निस्सन्देह रचना उत्तम कोटि की होती थी।' इसी प्रकार के विचार पुरोहित सूर्यकिरण ने अपनी पुस्तक *राजस्थान की हिन्दी सेवा* में दिए हैं। उनका कहना है—"सुन्दरदासजी की रचना साहित्यिक और सरस है। इनकी काव्य भाषा ब्रजभाषा है। भक्ति-ज्ञान-विवेचन, नीति-देशाचार आदि विषयों पर इन्होंने उत्तम काव्य-रचना की है।"

उक्त सभी साहित्येतिहास के ग्रन्थों एव शोध-समीक्षाओं के अतिरिक्त भी पाठ्यक्रमों में निर्धारित सुन्दर-वाणी की छिटपुट समीक्षा होती रही है। सत्तर के दशक के बाद तो पाठ्यक्रमों मे सुन्दर-वाणी का सम्यक् प्रवेश होते दिखाई देता है और विधिवत् शोध प्रबन्ध लिखे जाने लगे हैं। इन पंक्तियो के लेखक के सम्पादकत्व में समग्र सुन्दर-वाणी का, *सुन्दर-ग्रन्थावली (भाग 1-2)* के रूप में, विशेष अर्थ-सन्धान के साथ, सन् 1992 में किताबघर, दिल्ली से पुन:प्रकाशन हुआ है। इस ग्रन्थ का लोकार्पण महामहिम (अब स्वर्गीय) राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा के हाथो हुआ था। इस ग्रन्थावली के *पुरोवाक्* में सन्त सुन्दरदास के प्रति लेखक के ये विचार आज भी उल्लेखनीय है—

"मुझे लगता है कि सन्त-वाणी मात्र शब्द-योजना, उपदेशक की भाषा अथवा जीवन-संग्राम से भगानेवाली निर्वेद प्रधान, वैराग्यपूर्ण वाणी मात्र नही है और न यह मात्र कविता है। सच तो यह है कि परिवेश के मरणोन्मुख, विसंगति भरे वातावरण में, सन्त-रचनाकारों के मन भी झुलसते रहे हैं। वे अपने परिवेश के ऐसे जन के प्रति निरन्तर सवेदनशील बने रहे हैं। इसीलिए इनकी वाणी, अपनी विचार-ऊष्मा को लेकर, समताकाश में ऊर्ध्वमुखी बनी रहकर भी, धरती के मानस की तपन बुझाती रही है। इनकी वाणी व्यासगद्दी पर बैठे हुए पुरोहित-कथावाचक द्वारा दिया गया एकतरफा उपदेश नही है। यह वाणी जनहृदय का सवाद है, काव्य है, जो कुटिलता और अपराध वृत्ति की दुनिया से निकाल कर, चेतना को साधु बनाने की ओर अग्रसर करती है। इसी अर्थ में सुन्दर-वाणी की अपनी सार्थकता है।"

दो

सुन्दरदास की रचनाएँ

रचनाओं का फलक—सन्त कवि सुन्दरदास अपने युग मे ही नहीं, परवर्ती युगों मे भी, उत्तर मध्यकाल के प्रमुख रचनाकार के रूप में चर्चित, विवेचित सम्मानित एवं पठनीय बने रहे हैं। इनकी छोटी-बड़ी सभी रचनाओं का संकलन-प्रकाशन साहित्य के लिए ही नहीं, तत्कालीन भाषा-संस्कृति निर्माता के रूप में, साहित्य-समाज एवं इतिहास की प्रवृत्तियों को ऑकने के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। इसका कारण यह रहा कि सन्त सुन्दरदास बहुत लम्बे समय तक काव्य-रचना करते रहे हैं। यहाँ यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि ये बालयोगी होने के साथ ही बालकवि भी थे। अपने जीवन के 11वें वर्ष में ही इन्होंने अपने प्रति गरीबदास द्वारा की गई उपहास-वृत्ति का, आशु-रचना में करारा जवाब दिया था। वैसे, अपने समग्र रचना-संसार में सुन्दर कृत सभी कुछ श्रेष्ठ एवं उच्च कोटि की काव्य-रचना के रूप में स्वीकृत हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ, प्रारम्भिक कवि-मानसिकता की ही रचनाएँ हैं। पद्यबद्ध होने के कारण वे रचनाएँ उल्लिखित भर हैं। प्रौढ़ावस्था की रचनाओ में भी देशाटन सम्बन्धी रचनाएँ, *बाईजी की भेंट के सवैये* जैसी अनेक रचनाएँ पुनरावृत्ति अथवा द्विरावृत्ति की रचनाएँ कही जा सकती हैं। इसी प्रकार कविता-लक्षण, गूढ़ार्थक बन्ध अथवा प्रहेलिका प्रधान चित्रकाव्य के अन्तर्गत आनेवाली एक-एक, दो-दो छन्दों की रचनाएँ अथवा जीवन के अन्तिम छोर की निढाल रचनाएँ, परिष्कृत रचना-धर्मिता के नमूने नहीं कहे जा सकते। यद्यपि, इन रचनाओ को पढ़कर भी कवि सुन्दरदास की व्युत्पन्नता, विदग्धता एवं काव्य-कौशल का अन्दाज लगाया जा सकता है। पर सन्त-काव्य की भाव-भूमिका में ये श्रेष्ठ काव्य-रचनाएँ नहीं कही जा सकतीं। राघवदास कृत *भक्तमाल* के छन्दो की टीका लिखनेवाले चत्रदास (चतुरदास) ने पण्डित-कवीश्वरों को सुख देनेवाली सुन्दरदास की जिन-जिन रचनाओं का उल्लेख मिला है, उनमें कुछ तो आज भी अनुपलब्ध हैं। *सुन्दर-वाणी* के प्रथम संकलनकर्ता पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनथक चालीस वर्षो के प्रयास के बाद भी, वे रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। उनमें *ग़ज़ल, अलंकार भूषण* और *पंच विधानी* रचनाएँ प्रमुख हैं। अपने आप में छोटी-बड़ी जो 48 रचनाएँ हैं, उन्हें पढ़कर ऐसा सुनिश्चित लगता है कि सन्त

सुन्दरदास अपने रचना-धर्म और कर्म में निरन्तर जागरूक एवं काव्य-रचना मे अभिरुचि लेनेवाले रचनाकार थे। इसीलिए सुन्दर कृत ग्रन्थ-सख्या और उनके क्रम के सम्बन्ध में विद्वानो मे अधिक मतभेद दिखाई नहीं देता। इसका एक कारण यह भी है कि सुन्दरदास ने अपने जीवन काल में ही अपने एक अनुयायी रूपदास द्वारा, सम्वत् 1742 (सन् 1685) मे, फतहपुर (राज.) नगर में रहते हुए ही, अपने रचना-ग्रन्थो का पुनर्लेखन प्रारम्भ कराके, लगभग दो वर्षो में पूरा करा लिया था। सम्वत् 1746 मे तो सुन्दरदास, सागानेर अपने मित्र रज्जब अली से मिलने चले ही गए थे और वहीं उन्होंने अपना चोला त्यागा था। रचनाओं के सम्बन्ध में यह तथ्य भी सुनिश्चित है कि सुन्दरदास साधुओं एव काव्यरसिकों के बीच सुनाने एव उनकी प्रतिलिपि कराने का कार्य निरन्तर कराते रहते थे। प्रमाण स्वरूप *सुन्दर-वाणी* पर पहली प्रतिक्रिया उनके ही समकालीन राघवदास कृत *भक्तमाल* है, जिसमें सुन्दरदास और उनकी वाणी के प्रति पूरा सम्मान व्यक्त किया गया है। यहाँ सुन्दर कृत रचनाओं का क्रमश· संक्षिप्त परिचय देना समीचीन लगता है–

1. ज्ञान समुद्र—सुन्दर कृत रचनाओं में यह पहली रचना मानी जाती है, जो उनकी प्रौढ़ावस्था तक लिखी जाती रही है। ऐसा नही है कि इससे पूर्व ग्रन्थ-रचना नहीं की होगी। पर, प्रबन्धात्मक महत्त्वपूर्ण रचना यही है। सन्त-काव्यधारा के भाषा-काव्यों में ऐसी रचना बहुत दूर तक दिखाई नहीं देती। स्वयं रचनाकार ने अपने *ग्रन्थ-प्रतिलिपिकरण* में इसे प्रथम स्थान दिया है। अन्य प्रसिद्ध रचनाओ में *सवैया* (सुन्दर विलास) ग्रन्थ एवं साखी-पदों की निरन्तर लेखन-प्रक्रिया में, हर ग्रन्थ का रचना-वर्ष दे पाना सम्भव नही हुआ। पर *ज्ञान-समुद्र* ग्रन्थ का रचना-वर्ष तिथि एव फलश्रुति होने के कारण, विभ्रम अथवा सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं दीखती। ग्रन्थ मे सम्वत्-वर्ष उल्लेख के अनुसार, इस ग्रन्थ का लेखन सम्वत् 1710 वि. की भाद्रपद शुक्ला एकादशी को पूर्ण हुआ, बताया गया है–

संवत सत्रह सै गये वर्ष दशोतर और।
भाद्रव सुदि एकादशी, गुरु वासर सिरमौर ॥
ता दिन संपूरण भयौ, ज्ञान समुद्र सुग्रन्थ।
सुन्दर औगाहन करै, लहै मुक्ति कौ पन्थ ॥

पाँच उल्लासों (अध्यायों) में परिसमाप्त यह ग्रन्थ, गुरु-शिष्य सवाद के रूप मे लिखा गया है। इसमें विषय-प्रतिपादन निर्गुण-विचार परम्परा के अनुरूप ही है। वर्णित विषयो में सद्गुरु-निष्ठा, ज्ञान का स्वरूप, नवधा-भक्ति-विवेचन, भाषा में सांख्य-योग एवं वेदान्त-विषयों का, जिज्ञासाओ के अनुरूप, प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थ-कलेवर विनियोजन क्रम मे रचनाकार ने प्रथम उल्लास में ज्ञान-जिज्ञासों को लेकर, गुरु के सन्निकट पहुँचना एवं शंकादि निवारण करने के लिए गुरु के सम्मुख

विनम्र भाव से प्रस्तुत होने में, प्राचीन काल से चले आते हुए जिज्ञासु का गुरु-आश्रम मे पहुँचने के बिम्ब को ही पुष्ट किया है। द्वितीय उल्लास मे नवधा-भक्ति, भक्ति के भेद एवं भक्तिविषयक अनेक जिज्ञासाओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है। तृतीय उल्लास मे अष्टांग योग और उसकी विविध विधियों का परिचय दिया गया है। राजयोग, समाधिगत आनन्द एवं योगी की ब्रह्मानन्द अवस्था का विवेचन, एक आचार्य कवि की भंगिमा के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार एक उपदेशक की भूमिका में सन्त सुन्दरदास ने शरीरगत पच तत्त्वों के संयोजन को, बड़ी सहज भाषा मे समझाया है। चतुर्थ उल्लास मे सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों को, भाषा-सार रूप में अवगत करा देना, रचनाकार का विषय-पारंगत होने की सूचना देता है। सांख्य सिद्धान्त में मुक्ति पाने की विधि और स्वरूप का निरूपण करते हुए सुन्दरदास ने प्रकृति-पुरुष भेद, सृष्टि-क्रम एवं चेतन पुरुष-सत्ता का स्वरूप-विस्तार, सहज ही समझा दिया है। पंचम उल्लास में चारो अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था को शब्दों में बाँधना तथा चार प्रकार के अभावों का विवेचन करते हुए, वेदान्त के महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' के अनुभव को बताया गया है और नेति-नेति विधि से निरुपाधिक शुद्ध चेतन तत्त्व को समझाया है। इस विचार-सन्दर्भ में रचनाकार का, भारतीय तत्वचिन्तन के क्षेत्र में यह योगदान कहा जा सकता है कि उन्होंने सांख्य-योग और वेदान्त विषयक विचारों को, भक्ति-भूमिका में एकाकार करते हुए, विचार को समरस-चेतना का अंग बनाकर प्रस्तुत किया है। ऐसा करते हुए सुन्दरदास कवि-विवेचक के साथ ही, चिन्तक-आचार्य के रूप में मुखर दिखाई देते हैं। विशेषता यह है कि वेदान्त-विचार को प्रमुखता देते हुए भी वे, *भक्ति* को *अरुणोदय* की संज्ञा देकर, उसके प्रभाव को जनचेतना के अनुरूप बनाते है। एक दूसरा बड़ा योगदान यह कहा जा सकता है कि सुन्दरदास ने रीतिकालीन शृंगार निरूपण एवं विवेचन की एकछत्रता को तोड़ते हुए, जन-जीवन के अनुकूल, शम एवं शान्त *भावों* की प्रमुखता को प्रतिष्ठित किया है। सुन्दर का यह कार्य उस सामन्ती समाज की विलासी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने अथवा लीक छोडकर नया कुछ सोचने के लिए प्रेरित करता है।

कुल मिलाकर शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान-समुद्र रचना, सुन्दर की सभी रचनाओं में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें कुल छन्द-संख्या 314 है और इनमें कुल 34 प्रकार के विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्दों के विविध प्रकार, उनका वर्ण्य-विषय एवं उनके अवगाहन के सम्बन्ध में कवि का यह सवैया छन्द प्रसिद्ध है—

> जाति जिती सब छंदन की बहु सीप भई इहि सागर माहीं।
> है तिन मैं मुक्ताफल अर्थ लहैं उनकौं हितसौं अवगाहीं ॥
> सुन्दर पैठि सकै नहिं जीवत, दै डुबकी मरिजीवहि जाहीं।
> जे नर जान कहावत हैं अति गर्व भरे तिनकी गमि नाहीं ॥

छन्द-कौशल एव विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से *ज्ञान समुद्र* ग्रन्थ को, निर्गुण ज्ञान-मीमासा का रीति ग्रन्थ तक कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ द्वारा साधना-साहित्य मे प्रयुक्त शब्दावली का सहज खुलासा मिलता है। इस ग्रन्थ की विचार-परिपक्वता के कारण ही शायद, रचनाओ मे प्रथम न होते हुए भी, इसे प्रथम स्थानीय रखा गया है। विवेचन-विश्लेषण करने पर ऐसा लगता है कि समूचे रीतिकाल में प्रबन्धमयी ऐसी रचना, पूरे भाषा-साहित्य मे देखने को नहीं मिलती। यद्यपि इस ग्रन्थ मे कवि-चेतना का काव्य-पक्ष बहुत कमजोर रहा है। क्योंकि, कवि का शास्त्रज्ञान इस पर हावी रहा है। फिर भी, सन्त-साहित्य में *ज्ञानसमुद्र* ग्रन्थ एक प्रतिनिधि रचना के रूप मे प्रतिष्ठित है। इस रचना के माध्यम से सुन्दरदास ने, साहित्य की ज्ञानमार्गी धारा को, रीतिपथ देकर, एक आचार्य के कर्तव्य-कर्म का निर्वाह किया है। यही नही, इस ग्रन्थ का दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इसके द्वारा कवि ने तत्कालीन सामाजिक चेतना को, भोग-विलास वाली रीतिकालीन लोलुप-वृत्ति को, सात्विकता प्रधान राम-वृत्ति की ओर मोडकर, एक समर्थ कवि के सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है। लेखक को लगता रहा है कि उस समय के सामन्ती-समाज के बीच, चेतना को सामाजिकता एवं सात्विक वृत्तियों की ओर प्रवाहित करना भी, रचनाकार सुन्दरदास का महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी क़दम था।

2. **सर्वांगयोग प्रदीपिका**—संस्कृत में *हठयोग* शास्त्र का ग्रन्थ *हठयोग प्रदीपिका* है। लगता है उसी की तर्ज पर सुन्दरदास कृत *सर्वांगयोग प्रदीपिका* ग्रन्थ-शीर्षक रखा गया है। यह ग्रन्थ भी *अध्याय* रूप *उपदेशों* में व्यवस्थित है। इस ग्रन्थ मे प्रतिपाद्य विषय—पंच प्रहार, भक्तियोग, हठयोग, सांख्ययोग आदि हैं। यह रचना दोहा-चौपाई छन्दों में है, जिनकी कुल संख्या 203 है। रचना के प्रथम उपदेश में तत्कालीन समाज में व्याप्त विभिन्न मत-मतान्तरों एवं पाखण्ड भरी रूढियो की आलोचनात्मक विवेचना की गई है। इस विवेचन में तत्कालीन समाज स्वयं मुखर है। उदाहरण के लिए जब लेखक *नास्तिक* अथवा *शाक्त* जीवन-पद्धति अपनानेवालो पर आक्षेप करता है, तो उसके दुर्बल पक्ष भी स्वयं उजागर होते चलते हैं—

> केचित् धूम्रपान करि भूलें। औधे होइ बृच्छ पर झूलैं ॥
> केचित् आक धतूरा षाहीं। पुनि अंगार मेलहिं मुख मांहीं ॥
> केचित् देवी शक्ति मनावैं। जीव हतन करि ताहि चढ़ावैं ॥

इसी प्रकार द्वितीय *उपदेश* भक्तियोग में मन्त्र-लय, चर्या-योग का विस्तार से वर्णन हुआ है। निर्गुण-भक्ति भावना के अनुरूप भक्ति-योग मे, प्रत्यक्ष ब्रह्म की मानसी पूजा को श्रेष्ठ बताया गया है। इस पूजा का निराकार विधान बताते हुए रचनाकार ने आराधक (भक्त) द्वारा *संयम* को ही स्नान-विधान बताया है और *चित्त-समर्पण* को चन्दन-चर्चन कहा है। यही नहीं, ध्यान-धूप, ज्ञान-दीप एवं

अनहदनाद को ही घण्टा-ध्वनि कहकर *भाव का भोग* लगाते हुए, *पतिव्रत भाव* से मन-मन्दिर मे इष्ट-प्रियतम को अनन्य भाव से, निष्ठापूर्वक भजना ही, पतिव्रत भाव का भक्ति-योग बताया गया है–

ज्यौं पतिव्रता रहै पति पासा। ऐसै स्वामी के ढिंग दासा ॥

इसी प्रकार मन्त्र-योग की सन्त-साधना में, गुरु प्रदत्त मन्त्र द्वारा राम-नाम की धुन से, हृदय को रागमय बनाए रखना लक्षित बताया है–

सब प्रकार हरि सौं लै लावै। होइ विदेह परम पद पावै ॥
छिन-छिन सदा करै रस पाना। लय तें होइ ब्रह्म समाना ॥

लय-योग में साधक-सन्त की चेतना पपीहा की तरह, इष्ट-पुकार में तन्मय बनी रहती है। ऐसी चर्या का साधक, लोक-व्यवहार को निभाते हुए भी, अपनी इष्ट-साधना में तल्लीन बना रहता है। चर्चा-योग मे सन्त-साधक अपने साध्य के गौरव-गान में इतना विभोर बना रहता है कि उसे इष्ट की तुलना में, दुनिया का सभी कुछ फीका और तुच्छ लगने लगता है। सुन्दरदास भक्ति के उक्त चारों अंगों में, नवधा-भक्ति के तत्त्वो का समायोजन मानते है–

ये चारयौं अग भक्ति के, नवधा इन्हीं मांहि।
सुन्दर घट महि कीजिये, बाहिर कीजै नाहिं ॥

ग्रन्थ के अन्य उपदेशों में हठयोग, राजयोग, लक्ष्ययोग आदि के लक्षण बताते हुए ग्रन्थकार ने *अष्टांग योग* की विधिवत् विवेचना की है। इसी सन्दर्भ मे उन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि का विवेचन करते हुए मुद्राबन्ध को भी समझाया है और फिर धारणा, ध्यान, समाधि विषयों की चर्चा की है। *ध्यान* का विवेचन करते हुए ही सुन्दरदास ने षट्चक्र भेदन का सांगोपांग विवेचन किया है। समाधि-योग का लक्षण बताते हुए, *समाधि-दशा* का सरलतम शब्दो मे विवेचन देखिए–

जीवातम परमातम दोई। समरस करि जब एकै होई ॥
बिसरै आप कछू नहिं जानै। ताको नाम समाधि बषानै ॥

ज्ञान-विचार में आत्मा-परमात्मा के एकत्व भाव के साथ ही विश्व-चेतस् से तादात्म्य लक्षित बताया है–यौं आत्मा विश्व नहिं न्यारा। ज्ञान योग कौ इहै विचारा ॥ ग्रन्थ-रचना के अन्त में ब्रह्मयोग दशा पाने के लिए कठिनाई को रेखांकित करते हुए, सन्त सुन्दरदास ने दुविधा रहित मानसिकता को प्रमुखता दी है और नेति-नेति चिन्तन-विचार-मार्ग से, अहं ब्रह्मास्मि की मानसिकता पाना सुकर बताया है। उस दशा में पहुँचते ही ध्येय-ध्याता और ध्यान का त्रिपुट एकाकार हो उठता है। इस अद्वैत भूमिका के लिए सुन्दर द्वारा दिया गया भाषा-लक्षण द्रष्टव्य है–

ज्ञे ज्ञाता नहि ज्ञान, तह ध्ये ध्याता नहि ध्यान।
कहनहार सुन्दर नही, यह अद्वैत वषान ॥

3 **पंचेन्द्रिय चरित्र**—दोहे-चौपाई शैली मे लिखी गई यह प्रबन्धात्मक रचना सुन्दरदास के साधना-काल की रचना मानी जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना-काल के समय सुन्दर की आयु लगभग 38 वर्ष की रही होगी। कुल 221 दोहा-चौपाई वाली प्रस्तुत रचना में सन्त कवि सुन्दरदास ने पंचेन्द्रियो को पात्र रूप में निरूपित करते हुए, कथात्मक सूत्रो का ताना-बाना बुना है। रचनाकार ने पॉचों इन्द्रियों की प्रकृति एवं प्रवृत्ति को रेखांकित करने के लिए गज, भ्रमर, मीन, पतंग और मृग—इन पाँच पशुओ की पॉच प्रवृत्तियों मे मनुष्य की पंचेन्द्रिय-प्रकृति को निरूपित किया गया है, जिनसे उनकी विषय-लोलुपता प्रकट हो सके। विषयी-लोलुप मानसिकता मे मनुष्य की चित्तवृत्ति, अपने विषय (= भोज्य) को छोड़कर अन्यत्र कही-नहीं जाती और इन्हीं विषयों के वशीभूत बने रहकर, मनुष्य-चेतना आसक्ति के कारण, गुलाम बनी रहकर संकीर्ण बनी रहती है।

उक्त रचना कुल छः (उपदेशों) अध्यायों में व्यवस्थित है। इनमें प्रथम पॉच उपदेशो मे पॉच अलग-अलग पशु-जीवो को सटीक प्रतीकत्व मिला है, जिनके द्वारा मनुष्य-इन्द्रियों को व्यंजित कराया गया है और अपनी बात की पुष्टि में अनेक दृष्टान्तों द्वारा सन्त कवि ने अपने लक्षित अर्थ को भाषाबद्ध किया है। विषयों की आसक्ति की प्रबलता में मनुष्य-चेतना की समरसता कितनी खण्डित बनी रहती है, इस बात को लेखक ने रूपक के माध्यम से, बड़े मनोरंजक तरीक़े से समझाया है। कहा है कि ये इन्द्रियाँ (-प्रतीक) अपने एक दोष के कारण ही, जीवन की स्वायत्तता को विनष्ट कर देती है। यदि इनमें पॉचों इन्द्रिय-आसक्तियॉ प्रबल हो जाएँ, तो चेतना कितनी विवश और गुलाम हो सकती है, इसका अन्दाज़ लगाना कठिन है। देखिए—

गज अलि मीन पतंग मृग, इक इक दोष बिनाश।
जाकै तन पंचौ बसैं, ताकी कैसी आश ॥
ये पंच करैं मति हीना। ये पंच करै आधीना ॥
ये पंच विकर्म करावैं। ये पंचौ मान घटावैं ॥

उक्त पॉचों पशु-जीवों का प्रतीकत्व परम्परा सिद्ध है। इनमे सन्त रचनाकार सुन्दरदास ने, स्वतन्त्र प्रकृति के गजराज के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए कहा है कि यदि तुम स्पर्श आसक्ति के वशीभूत न होते, तो मनुष्य के बन्धन मे पड़कर गुलाम क्यो बनते? गज के माध्यम से मनुष्य को सम्बोधित करते हुए, दोहे की व्यजना देखिए—

काम दिया दुख बहुत ही, बन तजि बध्या ग्राम।
गज बपुरे की को कहै, विश्व नचाया काम ॥

रचना का निष्कर्ष छठे उपदेश मे देखने को मिलता है। इन्हीं विषयी प्रवृत्तियों पर सयम करना मनुष्य का साधना-कर्म बताया गया है। सन्त-जन इन्द्रियजयी होकर ही, समाज में निर्द्वन्द्व बने रहकर, स्वतन्त्र भाव से विचरते हैं। संयम द्वारा ही देह-दृष्टि से उबरकर, आत्म-दृष्टि प्राप्त करते हैं। सन्त सुन्दरदास की दृष्टि में इन्द्रियजयी ही सच्चे साधु बताए गए हैं—

इन्द्रिय दवैं सु अगम अति, इन्द्रिय दवैं अगाध।
इन्द्रिय दवै सु जगत गुरु, इन्द्रिय दवैं सु साध ॥

4. **सुख समाधि**—यह लघु रचना अनुभव की सघनता एवं अभिव्यक्ति-कौशल का सुन्दर उदाहरण है। कुल 32 *अर्द्ध सवैया* (= दो पंक्तियों का) छन्दों मे परिसमाप्त यह रचना, गूँगे के गुड़ खाने जैसे शब्दातीत अनुभव को यथासम्भव मुखर एवं व्यंजित कर पाने की सशक्त रचना है, जो अकथनीय है—अर्थात् जो सूक्ष्म शब्दातीत अनुभव है, उसे शब्दों में, अभिव्यक्ति में, कैसे बॉध जाए? इस चिर कठिनाई को मुखर करने के लिए रचनाकार ने ब्रह्मानन्द भोक्ता सहृदय-साधु को ही इस अनुभव का सही घटक माना है। ऐसे सहृदय के अनुभव में आए आनन्दातिरेक को, ब्रह्मानुभूति को, सांकेतिक ढंग से जैसी अभिव्यक्ति दी गई है, वह इस रचना के पढ़ने से अनुभव की जा सकती है। ऐसी ही अपरोक्षानुभूति को सुन्दरदास ने सुख-समाधि शीर्षक में प्रस्तुत किया है। यह अनुभव, ताज़े नवनीत के खाने अथवा शुद्ध घृत आस्वाद से उपमित हुआ है। कहा भी जाता है कि—जिन जाना। तिन न बखाना—अर्थात् जो सही ढंग से परम अनुभव को जान लेता है, वह फिर उसको बखान नहीं कर पाता। वास्तव में आसक्ति-एषणाओ से मुक्ति पा लेने के बाद, सहज निर्मल चित्त-भूमिका मे ऐसा अनुभव होना, सहज स्वाभाविक लगता है। सुन्दर के शब्दों में देखिए—

अर्थ धर्म अरु काम जहां लौं, मोक्ष आदि सब छाड़ी आस।
घी सौ घौटि रह्यौ घट भीतरि, सुख सौ सोवै सुन्दरदास ॥

अथवा

जाकौं अनुभव होइ सु जाणैं, पायौ परमानंद निवास।

5. **स्वप्न प्रबोध**—स्वप्न-स्वरूप के अवबोध पर, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टि से बहुत कुछ लिखा गया है। किन्तु, सन्त-चेतना में स्वप्न-स्वरूप कुछ और ही प्रकार से विवेचित होता रहा है। ज्ञान-विचारधारा मे संसार की स्थिति को स्वप्न-सृष्टि के रूप में निरूपित किया जाता है। जिस प्रकार स्वप्न-दशा न तो सत्य होती है और

असत्य। यह विशेप दशा होने के कारण यथार्थ स्थिति होने पर भी, जागतिक अवस्था में मिथ्या अथवा काल्पनिक मानी जाती है। वैसे ही, नाम-रूपात्मक यह जगत है। अर्थात् इसकी ठोस-पदार्थगत स्थितियॉ अथवा भावात्मक सम्बन्ध, ज्ञानदशा मे या फिर चेतना की तुरीयावस्था मे भासती अथवा मिथ्या प्रतीत होती है। नाना रूपात्मक इस जगत् की स्थिति को, सन्त सुन्दरदास ने जागने अथवा स्वप्न टूटने पर होनेवाली बोधात्मक दशा को, तुलनात्मक दृष्टि से कुछ भिन्न प्रकार की बताया है। ससार की स्थिति कुछ इसी प्रकार की अर्थात् स्वप्नवत् अवास्तविक लगती है। 26 दोहा-छन्दो मे विवेचित इस छोटी-सी रचना में रचनाकार ने स्वप्न-दशाओं की वास्तविक लगनेवाली स्थितियो को रेखाकित किया है। दोहा जैसे छोटे छन्द मे, विचारों को भाषा की सामासिकता में बाँधना, यहाँ रचनाकार की क्षमता का द्योतक है। दार्शनिक ज्ञान की जाग्रतावस्था में कुछ और ही प्रकार का अनुभव होता है। रचनाकार ने इन्हीं मानसिक स्थितियों को, जीवनानुभव के रूप में प्रस्तुत किया है–

स्वप्नै मैं मेला भयौ, स्वप्नै मांहिं बिछोह।
सुन्दर जाग्यौ स्वप्न तें, नहीं मोह निर्मोह ॥
स्वप्नै मैं ब्राह्मण भयौ, स्वप्नै मै शूद्रत्व।
सुन्दर जाग्यौ स्वप्न ते, नहि तम रज नहिं सत्व ॥
स्वप्न सकल ससार है, स्वप्ना तीनौं लोक।
सुन्दर जाग्यौ स्वप्न ते, तब सब जान्यौ फोक ॥

6. वेद-विचार–वेद-विचार सम्वन्धी यह लघु रचना कुल 21 दोहा-छन्दों में परिसमाप्त है। इन छन्दों मे वेद-प्रतिपादित शिक्षा एवं उसके सामाजिक स्वरूप को सरल भाषा मे समझाया गया है। रचनाकार ने अपनी बात समझाने के लिए, वृक्ष का रूपक प्रस्तुत किया है। सुन्दरदास ने तीन शाखाओं–कर्म, उपासना और ज्ञान वाले वृक्ष को, पत्र-पुष्प और फल से युक्त करके निरूपित किया है और कर्म को पत्र, भक्ति को पुष्प और ज्ञान को फल के रूप में दर्शाया है। वेद-ज्ञान के रूप में विद्यमान महाफल को, सामान्य पाठकों के समक्ष, भाषा में प्रस्तुत करने मे रचनाकार की लोक-हित की कामना मुखर दिखाई देती है। भाषा में निरूपित होने पर ज्ञान-विचार को, आम आदमी भी, व्यावहारिक जीवन में अपना सकता है। यही नही, दोहों में शास्त्र पक्ष भी संकेतित है। वास्तव में, इस लघु रचना के माध्यम से रचनाकार, विधि-निषेध की सीमाओ में बँधी लोक-चेतना को उबारकर, विचार की समरसता प्रदान करना चाहता है। वैसे भी, वेदान्त शब्द, विचार-सिद्धान्त निरूपण में ही सिद्ध होता है। यहॉ सन्त-रचनाकार, निषिद्ध कर्मो के प्रति विरति एवं विहित कर्मो के प्रति सामाजिक रुचि जगाने के लक्ष्य से प्रेरित दिखाई देता है। रचनाकार के मन्तव्य को इन उदाहरणों से भली प्रकार समझा जा सकता है–

निषिध छुड़ावण कारनै, भय उपजायौ आइ।
मद्य मांस पर त्रिय गवन, इन तें नरकहिं जाइ ॥
ज्यौ पशु हरहाई करंहि, षेत बिराने षांहि।
षूंटे बाधे आनि सब, छूटि न कतहू जांहिं ॥
वेद वृक्ष यौं बरनियौ, या ही अर्थ बिचार।
कर्म पत्र ताकैं लगैं, भक्ति पुष्प निरधार ॥
ज्ञान सु फल ऊपर लग्यौ, जाहि कहैं वेदान्त।
महा वचन निश्चै धरै, सुन्दर तब ह्वै शान्त ॥

7. **उक्त अनूप** : इस लघु रचना में अनुपम उक्ति, गुरूपदेश के रूप में निरूपित है। जो वचन अथवा विचार, जीवन-आचरण के लिए उपयोगी अथवा सार्थक हों, जिनसे हृदय के निर्मल होने की सम्भावना हो, रचनाकार सुन्दरदास ने उन्हें ही अनुपम बताया है। कहा भी है--शुद्ध हृदय जाकौ भयौ, उन्हें कृतारथ जान। गुरु-वचनो से शिष्य की मलिन चित्तवृत्तियों का रूपान्तरण हो सके, उन्हें ही गुरु की अनुपम उक्तियॉ कहा जा सकता है। ऐसे विचार-अनुभवों के माध्यम से ही शिष्य-अनुगामी की चेतना, आत्म-अनात्म अर्थात् जड़-चेतन की पहचान बनाने में समर्थ हो पाती है। रचनाकार का विश्वास है कि निरन्तर श्रवण, मनन एव निदिध्यासन से ही वैसा चेतन-अनुभव पाया जा सकता है। अध्यात्म मार्ग पर चलते हुए नित्य जिज्ञासु चेतना द्वारा ही अशुभ वृत्तियों का निरसन होकर, कल्याणकर भाव-कर्मो का उदय हो पाता है। रचनाकार ने त्रिगुण की वृत्तियो का सूक्ष्मता से विवेचन, प्रस्तुत 21 दोहोवाली इस लघु रचना में किया है। इन दोहों में गीता-विचार की झलक के साथ रचनाकार का मन्तव्य भी देखा जा सकता है--

तीन गुननि की बृत्ति मंहिं, है थिर चंचल अंग।
ज्यौं प्रतिबिंबहिं देषिये, हालत जल के संग ॥
शुद्ध हृदय मैं ठाहरै, यह सद्गुरु को ज्ञान।
अजर वस्तु कौं जारि कै, होइ रहै गलतान ॥
शुद्ध हृदय जाकौ भयौ, उहै कृतारथ जांन।
सोई जीवन मुक्त है, सुन्दर कहत बषांन ॥

8. **अद्‌भुत उपदेश** : प्रस्तुत रचना में प्रतिपाद्य विषय, परम्परित होते हुए भी, प्रस्तुतीकरण में मौलिकता तथा रुचि जगाने में नयापन अनुभव किया जा सकता है। उक्त रचना का कलेवर कुल 57 दोहों में निरूपित है। रचना में बॉधा गया रूपक, कबीर की उस साखी के भाव से सर्वथा मेल खाता है, जिसमें वे परमात्मा एवं जीव का सम्बन्ध पिता-पुत्र के रूप में प्रस्तुत कर चुके हैं। वहॉ मेले में खो जानेवाले बालक एवं उसके पिता की मानसिकता बताई गई है। पुनः मिलने पर बालक को जो सुख

होता है, पिता को भी लगभग वैसी ही तृप्ति का अनुभव होता है। मन की उसी भाव-दशा को जीवात्मा-परमात्मा के विछोह के रूप में, इस रचना मे भी ऑका गया है। कवीर की साखी देखिए—

पूत पियारा पिता कौ, गोहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथ दे, आपण गया भुलाइ ॥

—क ग्रं. 3/13

इधर, सुन्दरदास का दोहा है—

अपने अपने तात सौ बिछुरत ह्वै गये और।
सद्गुरु आप दया करी, लै पहुँचाये ठौर ॥

पंक्तियों का विवेचन करते हुए कहा जा सकता है कि विषयासक्तियों के वशीभूत होकर इन्द्रियॉ स्वेच्छाचारी हो जाती हैं। फलतः उनका कुमार्गी होना निश्चित हो जाता है। इन्द्रियों के वशीभूत होने पर चेतना संकीर्ण एवं गुलाम बनी रहती है। संयोग से यदि सद्गुरु [= ज्ञान] विवेक, अनुभव मे आ जाता है, तो वह भ्रान्त चेतना को झकझोरते हुए, चेतना को ज्ञान-विचार के प्रकाश में ले आता है। परिणामतः चित्त, प्रसादात्मकता का अनुभव करते हुए, हरि-स्मरण से निर्मल होने लगता है। ऐसा होने पर ही चेतना, ज्ञान के महाभाव मे प्रवेश कर पाती है। प्रस्तुत रचना में ऐसा ही कुछ तत्त्वचिन्तन है। परमात्मभाव से विलग होते हुए मनुष्य की चेतना, इन्द्रिय-प्रसार में कुछ इस प्रकार से संकीर्ण होती चलती है—

परमातम सुत आतमा, ताकौ सुत मन धूत।
मन के सुत ये पंच हैं, पंचौ भये कपूत ॥
मन हित बंध्यौ पंच सौं, लपटि गयौ तिन संग।

परमात्मा तो सभी के हृदय में समान रूप से साक्षी होकर प्रकाशित रहता है। किन्तु विषयासक्तियों के कारण कुछ हृदय धूमिल, मलिन बने रहते हैं, जिससे परमात्मभाव का प्रतिबिम्ब हृदय-दर्पण में दिखाई नहीं देता—

परआतम साक्षी रहै, व्यापक सब घट माहिं।
सदा अखंडित एक रस, लिपै छिपै कुछ नाहिं ॥

उधर, विचार-ग्रहण अथवा आध्यात्मिक सत्संग में, ज्ञान-प्राप्ति का सबसे सहज और संवेदनशील माध्यम कान [= कर्ण, श्रवणेन्द्रिय] को ही माना जाता है। हरि-चर्चा से प्राप्त एकाग्रता के परिणामस्वरूप, यह विचार-अनुभव में आ जाता है कि शरीर में स्वाद, स्पर्श, गन्ध, रूप और नाद रूपी ठग, चालाकी से निरन्तर चित्त की एकाग्रता को बिगाड़ते रहते हैं। जब इन ठगों की ठगी को मन समझ लेता है, तब प्रयत्नपूर्वक एकाग्रता द्वारा, मन फिर उनकी गुलामी से मुक्त होता हुआ, निर्मल

स्वभाववाला होने लगता है। तब फिर वह अपनी अन्त:प्रेरणा से पचेन्द्रियों को भिन्न प्रकार से समझाता हुआ कहता है–

तुम पंचनि कौ मन पिता, मन कौ आतम जानि।
आतम पित परमात्मा, ताहि लेहु पहिचान ॥

इस प्रकार इन्द्रियो के प्रसार एवं संकोच को, सुन्दरदास ने प्रस्तुत रचना मे बन्धन एवं मोक्ष का कारण बताया है तथा दार्शनिक दृष्टि से इस प्रसार और संकोच को शक्ति और शिव की विचार-सरणि से जोड़ते हुए, अपने वैचारिक ज्ञान को यहाँ भाषाबद्ध किया है। उनकी मान्यता है कि सद्गुरु की शरण में रहते हुए ही, चेतना सन्मार्ग-प्राप्त करते हुए ऐसा परम अनुभव कर पाती है–

प्रसरे हू ये शक्तिमय, संकोचे शिव होइ।
सद्गुरु यह उपदेश करि, किये वस्तुमय सोइ ॥

9. पंच प्रभाव : तीस दोहों में परिसमाप्त इस लघु रचना मे साधु-जीवन की पॉच दशाओं [= अवस्थाओं] को रेखांकित किया गया है। दोहों का आकर्षण यह है कि ये गागर में सागर भरे जानेवाले मुहावरे को चरितार्थ करते हैं। इनमें प्रयुक्त शब्दों की गागर में सघन विचारों की सागर-लहरियाँ उमंगित होती दिखाई देती हैं। साथ ही रूपक का सहारा लेकर रचनाकार ने गुरु-गम्भीर विषय को भी सहज रोचक बना दिया है। इसी कारण यह छोटी-सी रचना आख्यायिका जैसी लगती है। इसका मूल स्रोत *श्रीमद्भागवत* कहा जा सकता है। रूपक बाँधते हुए सुन्दरदास ने भक्ति को परमात्मा की प्रिय सुता बताया है, जिसको परमात्मा ने संसार में दासी रूप माया के साथ भेजा है। इधर, भक्ति-जीवन साधनेवाले लोग, अपने-अपने गुणों के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के तथा भक्ति रहित लोग अधमाधम कोटि के बताए गए हैं। किन्तु, इन सबसे पृथक् ज्ञानी की दशा बताई गई है, जो सर्वोत्तम होने के कारण पंचम कोटि के हैं। यह कोटि, ज्ञानी की निर्लिप्तता के कारण निर्धारित की गई है। परमात्मा-पुत्री भक्ति, जब अपना वर ढूँढ़ने के लिए, अपनी दासी [–माया] के साथ संसार में निकल पड़ती है। तब स्वयंवरा भक्ति के संकल्प के अनुरूप, कोई वर संसार में न मिलने पर, वह एक निष्ठावाले सन्त को अपना वर चुन लेती है। यहॉ द्विविधा तब दिखाई गई है, जब पिता के घर से साथ आई माया-दासी, उस सन्त के साथ कैसे निर्वाह करे? अर्थात् सन्त के साथ माया का सान्निध्य असम्भव है। यहीं फिर वर्गीकरण का आधार तैयार होता है। सन्त तो अपनी निष्ठा के अनुरूप भक्ति को अपनी इष्ट प्रिया मान लेते हैं। किन्तु माया को साथ नहीं रखना चाहते। यहॉ रचनाकार की मान्यता है कि जो भक्ति को एकनिष्ठ भाव से स्वीकारते है, वे साधु-जन सर्वोत्तम कोटि में आते हैं। किन्तु, जो दासी से भी थोड़ा सम्बन्ध बनाए रखना चाहते हैं, वे क्रमशः अपनी-अपनी कर्म-वृत्ति के अनुरूप मध्यम, कनिष्ठ एव

निकृष्ट कोटि में गिनाए गए है। यही नही, कुछेक तो ऐसे भी होते है जो *दासी माया* से ही सम्बन्ध बनाए रखना चाहते है और भक्ति-भाव के प्रति आदर तो दूर, तिरस्कार ही करते रहते हैं, उन्हे सुन्दरदास ने अधमाधम कोटि का बताया है। यहॉ प्रथम तीन अवस्थाएॅ तो भक्त अथवा भक्ति की है। चौथी अवस्था प्रपची, लम्पट अथवा कपटी या धूर्त्त की बताई गई है। विचारक सुन्दरदास ने एक पाँचवीं अवस्था भी निर्धारित की है, वह है ज्ञानी की। ज्ञानी, अपने ज्ञान-चिन्तन से तुरीयावस्था को पार करके तुरीयातीत होने के लिए सदा जागृत बना रहता है। ऐसे चैतन्य में जीनेवाले ज्ञानी को सुन्दरदास ने *ज्ञानी सब कौ सीस* कहकर सर्वश्रेष्ठ बताया है। अतः ग्रन्थ शीर्षक में प्रयुक्त *प्रभाव* शब्द का तात्पर्य यहॉ अवस्था विशेष की व्यंजना कराना है। अर्थात् पंच-प्रभाव का अर्थ है—मनुष्य की पच अवस्थाएॅ अथवा चेतन मन की पंच दशाएँ। देखिए—

भक्ति विवाही सन्त जन, माया दासी संग।
जुवती सौं निस दिन रमैं, दासी सौं नहि रग ॥
भक्ति भक्त माया जगत, ज्ञानी सब कौ सीस।
पंच प्रभाव बषानिया, सुन्दर दोहा तीस ॥

10. गुरु सम्प्रदाय : दोहा-चौपाई में रचित इस 53 छन्दोवाली लघु रचना में सुन्दरदास ने अपने गुरु-सम्प्रदाय का आख्यान किया है। इस रचना में वर्णन-क्रम प्रतिलोम पद्धति का है—*यह पद्धति प्रतिलोम सुनाई। जहॅ ते भई तहॉ पहुॅचाई* ॥

रचनाकार सुन्दरदास, परम्परा क्रम को स्वयं से ही प्रारम्भ करते हुए अपने गुरु दादूदयाल और उनके ब्रह्म सम्प्रदाय [या दादू सम्प्रदाय] के पूर्व-पूर्व गुरु-पुरुषों को गिनाते हुए आदि स्रोत ईश्वर अथवा ब्रह्म तक पहॅुचाते हैं। यह रचना गुरु-मार्ग अथवा गुरु सम्प्रदाय को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करती है। स्वयं को प्रथम गिनती मानते हुए वे कहते हैं कि मैं दादूजी से दौसा [द्यौसा, राजस्थान] मे शिष्यत्व पाकर अपने को धन्य माना है। स्वयं से लेकर परब्रह्म तक 38 नामों के व्यक्ति-पद-अनुभवों को गिनाते हुए सुन्दर अपने को दयालु दादूजी का शिष्य बताया है। वैसे कुशलानन्द से पूर्णानन्द तक 36 नामों का ऐसा उल्लेख, दादू-पन्थी किसी पोथी में नहीं मिलता। सुन्दर ने अन्तिम गुरु रूप में ब्रह्मानन्द नाम को गिनाया है। लगता है कि गुरु-परम्परा में गिनाए गए कुछ नाम निश्चित ही कल्पना प्रसूत है और कुछ के नाम आख्यान-इतिहास अथवा साधक-परम्परा में उल्लिखित होने के कारण, लिए गए हैं। इन नामों को अनैतिहासिक कहे जाने का एक कारण यह भी है कि दादूजी, पूर्व में किसी सम्प्रदाय विशेष से जुडे हुए नहीं थे। उन्हें तो अज्ञात कुल-नाम वृद्धानन्द [= स्वयं ब्रह्म, ईश्वर] ने नदी-तट पर एकान्त मे ज्ञान-प्रदान किया था। वैसे भी गुरु-परम्परा, ज्ञान का आदि स्रोत ईश्वर को ही मानती है। दादूजी के पन्थ का नाम

ब्रह्म सम्प्रदाय है। यह नाम, सम्भव है स्वय सुन्दरदास ने ही दिया हो। शायद इन्हीं से *भक्तमाल* के रचयिता राघवदास ने भी यह नाम अपनाया हो।

वैसे, अपनी *गुरु-कृपा अष्टक* लघु रचना मे भी सुन्दरदास ने परब्रह्म सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। हाँ, यह सच है कि ज्ञान-मार्गी गुरु-परम्परा में गुरु-पुरुषो का स्मरण, चर्या का आवश्यक अंग माना जाता है। इसका कारण बताते हुए सुन्दर ने कहा है—

> गुरु बिन मारग कोउ न पावै। गुरु बिन संशय कौंन मिटावै ॥
> प्रथमहिं कहौं आपुनी बाता। मोहि मिलायौ प्रेरि विधाता ॥
> दादू जी जब द्यौसहि आये। बालपनें हम दरसन पाये ॥
> स्वामी दादू गुरु है मेरौ। सुन्दरदास शिष्य तिन केरौ ॥

11. गुन उत्पत्ति नीसांनी : नीसांनी, छन्द विशेष का नाम है। यह लघु रचना, एक दोहा एवं बीस नीसांनी छन्दों में परिसमाप्त है। इसका प्रतिपाद्य, सृष्टि के विस्तार एवं त्रिगुणातीत चैतन्य दशा की व्यापकता का विवेचन, भाषा-छन्दों में करना है। वैसे नीसांनी शब्द श्लिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ गुण-उत्पत्ति का निशान [= चिह्न] है। दूसरा अर्थ छन्द विशेष है, जिसके प्रत्येक चरण में 23 मात्राएँ होती है और 13, 10 पर यति-विधान रहता है। इस छन्द के अन्त में दो गुरु [ऽऽ] वर्णो का होना आवश्यक है। दूसरी ओर सृष्टि-रचना में गुण-व्याप्ति को, रचनाकार ने ज्ञानमार्गी सन्त-चेतना के अनुरूप ही, छन्द-बद्ध किया है। लेखक की मान्यता है कि चेतन-सत्ता सर्वत्र व्याप्त है—*चेतन शक्ति जहाँ तहॉ घट घट नहिं छानीं*। इसके साथ ही रचना में पौराणिक विश्वासों को लेकर, धरा-प्रकृति के निरूपण में सन्त-चेतना को मुखर किया गया है। ऐसी अभिव्यक्ति रचनाकार की दृष्टि में बुद्धि का प्रकाश है। इस दृश्यात्मक सृष्टि का स्वरूप, निरंजन-निराकार सत्ता से सहज ही, स्वतः साकार हुआ है। अर्थात् यह जगत् किसी के कहने से नहीं बना। कहा भी है—

> प्रथम निरंजन आपुही मन मैं यहु आंनी।
> पंच तत्त्व गुन तीन तें, सब सृष्टि उपांनी ॥

रचना के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि को जड़-चेतन इन दो भेदों में बाँटकर देखा जा सकता है। इसमे चेतन की गति व्यापक होते हुए भी, उसे अद्भुत कहा गया है। क्योंकि, चेतन-तत्त्व सब कुछ का साक्षी होते हुए भी, अदृश्य एवं अलिप्त बना रहता है—

> जड़ चेतन द्वै भेद हैं, ऐसैं समुझांनी।
> जड़ उपजै बिनसै सदा, चेतन अप्रवानी ॥
> लिपै छिपै नहिं सब करै, जिन मंड मंडानी।
> सुन्दर अद्भुत देषिये, अति गति हैरानी ॥

12. सद्गुरु महिमा नीसांनी : पहली रचना के समान ही यह भी दो दोहो के साथ बीस नीसांनी छन्दों की अति लघु रचना है। इसका प्रतिपाद्य अपने गुरु दादू दयाल की महिमा बताते हुए गुरु-भाव की प्रतिष्ठा करना है। गुरु के प्रति निष्ठा भाव के साथ ही सद्गुरु का स्वरूप, स्वभाव एव उसके चरित्रादि में निहित शीलभाव को जन-चेतना तक प्रसारित करना, रचना का लक्ष्य कहा जा सकता है। सुन्दरदास गुरु के प्रति समर्पित होने के साथ ही, अपने रचना-कर्म में भी उसी भाव को बड़े मनोयोग से शब्दबद्ध करने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। ऐसी रचनाओं मे यह बताना कठिन-सा लगता है कि रचनाकार का कवि-हृदय प्रधान है अथवा सन्त-हृदय। कवि-हृदय जब उमंगित होकर कल्पनाशील होता है, तभी सन्त-हृदय उमडकर समरसता की भाव-भूमिका में चेतना का विस्तार करता है। फलतः भाव, तदाकार होकर शब्दमय हो उठते है और अन्तत· समर्पण भाव ही शब्दों में साकार दिखाई देता है। ऐसे उमड़ते भावों को जब छन्दादि में बॉधने की कोशिश करते हैं, तब बड़ी कठिनाई होती है। प्रस्तुत रचना में जहॉ नदी-धारा का रूपक बाँधा गया है, वहॉ गुरु-निष्ठा का प्रवाह, छन्दादि की सीमा में बड़ी कठिनाई से बाधित हो पाया है। 13-10 की मात्रा-यति के साथ 23 मात्राओं की पंक्ति में कुशल रचनाकार सुन्दरदास ने भावों का प्रवेग समेटा भर है। सुन्दर का हृदय, गुरु के प्रति जिस कृतज्ञता भाव का अनुभव करता है, उसे कामधेनु, पारस आदि काव्यरूढ़ियों में दे पाना सम्भव हुआ है। गुरु के प्रति प्रयुक्त उपमानों की मौलिकता द्रष्टव्य है–

अति गंभीर समुद्र ज्यो, तरवर ज्यों छाया।
बानी बरिषै मेघ ज्यूं, आनद बढ़ाया॥
निर्मल जैसा नीर है, मल दूरि बहाया।
तेजवंत पावक जिसा, भय शीत नसाया॥
पवन जिसा सब सारिषा, को रंक न राया।
ब्योम जिसा हृदये बड़ा, कहुं पार न पाया॥
टेक जिसी प्रह्लाद है, ध्रुव ज्यौं मन लाया।
ज्ञान गह्यौ शुकदेव ज्यौ, परब्रह्म दिषाया॥
जैसैं नाम कबीर जी यौं साधु कहाया।
आदि अंत लूं आइकै, रमि राम समाया॥

13. बावनी ग्रन्थ : प्रस्तुत रचना 58 दोहा-चौपाई छन्दो में परिसमाप्त है। इस रचना का लक्ष्य जन-मानस में अध्यात्म चेतना का प्रसार-प्रचार करना है। भाषा-कवियो में, विशेषतः सन्त-रचनाकारों में यह प्रथा देखी जाती है कि वे वर्णमाला परिचय-ज्ञान के साथ, लोक-मानस मे अध्यात्म चेतना के बीज भी बोते चलते हैं, जिससे सामाजिक की चित्त-भूमि, अपने कर्तव्य-कर्मो के साथ ही, जीवन की सार्थकता पाने के लिए, अपनी व्यापकता में सजग बनी रह सके। प्रस्तुत रचना में

सुन्दरदास आदि वर्णो के लिए, देवनागरी के स्थान पर, नागरी वर्णमाला को प्रमुखता देते दिखाई देते है। इस बावनी रचना में परम्परित अखरी, तख़्ती, ककहरा, कक्का, बारहखड़ी चौंतीसा, अलिफनामा, सी हरफी के समान ही, प्रत्येक वर्ण को आदि में रखकर पद्य रचना की गई है। इसका शीर्षक *बावनी* दिया तो गया है, पर रचना *अ* से *ह* तक, कुल 35 वर्णो पर ही हुई है। इस रचना द्वारा बाल-मन मे आध्यात्मिकता की घुट्टी पिलाना, रचनाकार का लक्ष्य कहा जा सकता है, साथ ही परम्परा का निर्वाह करना भी। रचनाकार की सक्षमता इस बात से भी ऑकी जा सकती है कि उसने अध्यात्म जैसे गम्भीर विषय को सरल-सहज भाषा में, बाल-मन के अनुकूल करके, प्रौढ़ो अथवा अक्षर-ज्ञान से रहित लोक-जन के लिए प्रस्तुत किया है। लेखक, सृष्टि रूप समूचे दृश्य को क्षर मानते हुए, उसी में अक्षर [= परब्रह्म] का बोध कराना अपना लक्ष्य मानता है। क्षर-भाव में अक्षर-भाव की व्याप्ति को ही सुन्दरदास ने इस लघु रचना में उजागर करने का प्रयत्न किया है। आज भी ऐसी रचनाएँ साक्षरता अभियान मे उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। गुरु-शिक्षा का यह स्वरूप देखिए, जिसमें एक-एक वर्ण पर पूरी एक चौपाई [= चार चरण] की रचना हुई। पंचमान्त वर्णों में ण, न, म से ही, ङ तथा ञ वर्णों का भी काम चलाया गया है। रचना में स्वरों को छोड़ दिया गया है। कबीर कृत चौंतीसा के समान ही, इस रचना को *पैंतीसी* कहा जा सकता है। अक्षर का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए *बावनी रचना* के ये दोहे उदाहरणीय हैं–

> शब्द सुनत मुक्ता भया, काटे कर्म अनेक।
> मनसा वाचा कर्मना, हृदये राषै एक ॥
> इक अक्षर है एक रस, क्षरै सु है ओंकार।
> तरवर ज्यौं का त्यौं रहै, छाया बहुत प्रकार ॥
> क्षर माहें अक्षर लष्या, सतगुरु के जु प्रसाद।
> सुन्दर ताहि बिचारि तैं, छूटा सहज विषाद ॥

14. गुरु दया षट्पदी : प्रारम्भ में दो दोहों के साथ छः त्रिभंगी छन्दों की लघु रचना यह षट्पदी है। त्रिभंगी छन्द का लक्षण है–*बत्तिस कल संगी, बने त्रिभंगी, दश अष्ट अष्ट षटगा अन्ता*। अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में 10, 8, 8 और 6 की यति से 32 मात्राएँ हों और अन्त में गुरु अक्षर हो, वहीं त्रिभंगी छन्द होता है। सभी त्रिभगी छन्दों की अन्तिम पक्ति है–*दादू का चेला, चेतनि भेला, सुन्दर मारग बूझैला*। इन छन्दों में गुरु-कृपा, भूले-भटके मनुष्य की चेतना को सुपथ पर लाने की प्रेरणा के साथ ही, छन्दों में प्रयोग-कौशल भी महत्त्वपूर्ण है। गुरु-निर्देश में ज्ञान का अनुभव होना, जीवन को कृतकृत्य बना देता है। उदाहरणार्थ, आध्यात्मिक अनुभव का एक छन्द द्रष्टव्य है–

तौ देष्यौ सीना मांझ नगीना, मारग झीना पग हीना।
अब हौ तू दीना, दिन दिन छीना, जल बिन मीना यौं लीना ॥
जी सो परवीना रस मैं भीना, अतरि माना मन मेला।
दादू का चोला चेतनि भैला, सुन्दर मारग बूझैला ॥

15-26 तक *अष्ट संख्यक* रचनाएँ अष्टक : उक्त सख्या क्रम में—15. भ्रम विध्वंस अष्टक, 16. गुरु कृपा अप्टक, 17. गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक, 18. गुरुदेव महिमा स्तोत्राष्टक, 19. रामाष्टक, 20. नामाष्टक, 21. आत्मा अचलाष्टक, 22. पंजाबी भाषाष्टक, 23. ब्रह्मस्तोत्र अष्टक, 24. पीर-मुरीद अष्टक, 25. अजब ष्याल अष्टक और 26. झूलनाष्टक, ये बारह लघु रचनाएँ हैं। जैसा कि इनके अष्टक उपशीर्षको से संकेतित है, ये अष्टक रचनाएँ, अपने आकार-संयोजन में आठ संख्या को महत्त्व देती है। यद्यपि, कुछ रचनाएँ आठ से भी अधिक छन्दोंवाली हैं, फिर भी इन्हें *अष्टक* नाम दिया गया है। वास्तव में ये रचनाएँ अपनी संक्षिप्तता, गेयता एवं सामूहिक गान के अनुकूल होने के कारण दादूद्वारों, मन्दिर-सत्संगों अथवा गोष्ठी सम्मेलनों में सहज ही गाने अथवा सुनाने के योग्य ठहरती रही हैं। प्रत्येक अष्टक उपशीर्षक, *नावक के तीर* की तरह प्रभावशाली एवं भाव-परिपुष्ट होने के कारण, सुगठित दिखाई देता है। रचनाकार ने प्रत्येक रचना में, स्वयं की अथवा अपने गुरु दादूजी की छाप को, रचना-पंक्तियों मे पिरो दिया है। एक विशेषता यह भी है कि प्रत्येक छन्द में एक पक्ति विशेष की आवृत्ति आवश्यक रूप मे देखने को मिलती है, जो विषय-प्रतिपादन एव मन पर प्रभाव डालने अथवा सामूहिक उच्चार की दृष्टि से, रागमय होकर, अपना प्रभाव डालती रही है। यह विशेषता हिन्दी-रचना की अपनी विशेषता है। सस्कृत-रचनाओं मे प्राय· ऐसा नहीं मिलता। छन्द में आवृत्तिवाली कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

दादू का चेला, भरम पछेला, सुन्दर न्यारा ह्वै षेला—भ्रम विध्वंस अष्टक,
दादू गुरु आया, शब्द सुनाया, ब्रह्म बताया अविनाशी।—गुरु कृपा अष्टक,
दादू दयाल प्रसिद्ध सद्गुरु ताहि मोर प्रनाम है।—गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक,
नमो देव दादू नमो देव दादू।—गुरु महिमा स्तोत्राष्टक,
तुम सदा एक रस राम जी राम जी।—रामाष्टक,
ईश्वरे ईश्वरे ईश्वरे ईश्वरे।—नामाष्टक,

रामाष्टक एवं *नामाष्टक* में *मोहिनी* [= स्त्रग्विणी] छन्द का प्रयोग है, जिसके विधान में चार *रगण* [ऽ।ऽ] होते हैं। इसी प्रकार आत्मा अचलाष्टक में लोक भाषा में प्रयुक्त होनेवाली भाषिक रूढियों को तोड़ने के लिए, विपरीत अर्थ देनेवाले प्रयोगों मे, लोक-भ्रान्ति को रेखांकित किया गया है। उदाहरण के लिए—कुआँ चलता है, रास्ता चलता है, दीपक जलता है अथवा चन्द्रमा का चलना, गंगा का बहना, कोल्हू

का चलना, बाज़ार का चलना, समय [काल] को काटना आदि प्रयोग अपने मूल से भिन्न अर्थ देते हैं। क्योकि, मूलत· ये चलते नहीं हैं। इसी प्रकार पंजाबी भाषाष्टक मे पजाब क्षेत्र की शब्दावली का कुशल प्रयोग देखने को मिलता है। यह आठ *चौपइया* छन्दों की रचना है। चौपइया छन्द, चतुष्पदी *छन्द* का ही भाषा रूपान्तरण है। इस छन्द के प्रत्येक चरण मे 30 मात्राएँ होती है और 10, 8 और 12 की यति का विधान रहता है। इस रचना मे परम सत्ता की खोज के लिए *नेति-नेति* शैली को अपनाया जाता है। देखिए—

वहु षोजी बिना षोजु नहि निकलै षोजु न हथ्थौं आवै।
पंषी दा षोजु मीन दा मारगु, तिसनौ क्यों करि पावै ॥

इसी प्रकार *ब्रहस्तोत्र अष्टक* में आठ *भुजंगप्रयात* छन्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। इस वर्णित छन्द में चार यगण [।SS] वाले शब्द-पदों का समायोजन रहता है। इन छन्दों की भाव-भूमिका आद्य शंकराचार्य कृत *चर्पट मंजरी* एवं *सौन्दर्य लहरी* जैसी रचनाओ की याद दिलाती है। शब्दावली भाषा-विशेष की होते हुए भी, क्रियाएँ हिन्दी की ही हैं। इन छन्दों में कोमलकान्त पदावली, अनुप्रास की योजना के साथ ही, परब्रह्म के प्रति नमन-भाव पूर्वक, जानने की भरपूर जिज्ञासा देखी जाती है। इन छन्दो में संस्कृत-शब्दावली भी, न तो छन्द-प्रवाह मे बाधा उपस्थित करती है और न समझने में कोई कठिनाई पैदा होती है। एक उदाहरण देखिए—

न ग्रामं न धामं न शीत न चोष्णं।
न रक्तं न पीतं न श्वेतं न कृष्ण ॥
न शेषं अशेषं न रेषं न रूप।
नमस्ते नमस्ते नमस्ते अनूपं ॥

चौबीसवे क्रम में आनेवाली *पीर-मुरीद अष्टक* रचना, एक दोहा और 8 चामर छन्दों की लघु रचना है। चामर छन्द के प्रत्येक चरण में पाँच *गणों* [—रगण, जगण, रगण, जगण और रगण] के साथ 15 वर्णो की योजना रहती है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से इसमें *पीर* [गुरु] और *मुरीद* [शिष्य] के सवाद के माध्यम से *मारिफ़त* [ब्रह्मज्ञान] दशा के अनुभव को, शब्दों में बाँधा गया है। यद्यपि, उस दशा अथवा मानसिकता को शब्दों में बॉध पाना बड़ा कठिन होता है। गुरु भी उस अनुभव को पूरा न कह सकने के कारण चुप [मौन] का सहारा लेता है और फिर संकेतों मे ही अनुभूय के प्रति इंगित करते हुए, संकेत भर कर पाता है। प्रस्तुत रचना में सूफ़ी फक़ीरों के अन्दाज़ मे, सुन्दर का यह कथन उल्लेखनीय है—

तब देषि वोर मुरीद की उन पीर मूदे नैन।
जो षूब तालिब होइगा तो समझि लेगा सैन ॥

रचना मे प्रतिपाद्य को अभिव्यक्त कर पाने की सामर्थ्य भी उल्लेखनीय है। रचनाकार ने हिन्दी-छन्द मे उर्दू-फारसी की शब्दावली को, अपने अर्थ की सिद्धि के लिए, सवेदना के साथ पुरोदेने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

25. अजब ष्याल अष्टक : यह रचना भी अरबी-फारसी-शब्दावली की प्रधानतावाली रचना है। इस लघु रचना मे आठ गीतक छन्दो के साथ 10 दोहे भी संलग्न है। लगता है कि गीतक छन्द में रचनाकार अपनी पूरी बात कहने में तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाया। इसीलिए सहायक छन्द के रूप में दोहा छन्दो को अपनाया है। गीतक छन्द गीतिका [हरिगीतिका] छन्द का ही दूसरा नाम है। इसके प्रत्येक चरण में 16, 12, की यति के साथ 28 मात्राओं का विधान रहता है। चरणान्त में लघु-गुरु [।S] का होना आवश्यक है। जैसा कि रचना-शीर्षक से व्यजित है कि इस विचित्र [अद्‌भुत]-अजीब, संयोजनवाली दुनिया में अनेक प्रकार के अजूबे हैं। अजायबात से भरे होने के कारण इस संसार को *अजायब घर* तक कहा गया है। इस विचित्र सृष्टि को देखकर इसके बनानेवाले विधाता [= परवरदीग़ार] की महिमा का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। इस हैरानगीवाली दुनिया को देखकर, इसके मर्म को समझने के लिए, मर्मी उस्ताद की ज़रूरत अनुभव होने लगती है, जो इसके भेद का खुलासा कर सके। सुन्दरदास ने ससार की विलक्षणता को प्रमुखता देने के कारण ही प्रत्येक छन्द के अन्तिम चरण में, शायद यह पंक्ति जोड़ी है—*यों कहत सुन्दर कब्ज दुन्दर अजब ऐसा ष्याल है*। तसव्वुफ विषय को प्रधानता देते हुए भी, शव्दो के सक्षम प्रयोग के कारण, यह रचना जन-सामान्य की पहुँच के अनुकूल बनी रही है। एक उदाहरण देखिए—

दरवेश दर की षवर जानै दूर दिल की काफिरी।
दर दरबंद षरा दरूनै उसी बीच मुसाफिरी ॥
है बेतमा इसमाइ हर्दम पाक दिल दर हाल है।
यो कहत सुन्दर कब्ज दुन्दर अजब ऐसा ष्याल है ॥

अर्थात् अन्तहकरण की निर्मलता मे निस्पृह रहकर हरदम, हर श्वास में प्रिय-स्मरण [= इसमाइ] से दिले-हाल समझा जा सकता है।

26. ज्ञान झूलनाष्टक : इस लघु रचना में आठ *झूलना* छन्द हैं। झूलना छन्द का विधान, सात *सगण* [। ।S] तथा अन्त मे एक *यगण* [।SS] के योग से कुल 24 वर्णो के समायोजन द्वारा होता है। इस रचना की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें सूफ़ी विचारधारा के साथ ही औपनिषदिक विचारधारा का मणिकांचन सहयोग देखा जा सकता है। तत्त्वदर्शन के लिए संस्कृत में अपनाई जानेवाली नेति-नेति पद्धति का अपनाया जाना, भाषा मे नया प्रयोग कहा जा सकता है। *कोई सुन्दर होय सु पावता है*, जैसे कथनो मे मन की आस्था के साथ ही संकल्प का स्वर भी मुखर है। रचना में संस्कृत एवं अरबी-फ़ारसी की शब्दावली का प्रयोग, भाषिक धरातल पर ही नहीं,

विचार के धरातल पर भी, समन्वयी चेतना का प्रतिफलन-सा लगता है। प्रतिपाद्य मे अनुभौ *पक्ष* की प्रधानता है। प्रस्तुत नकार मे अभिधेय के धरातल पर ही नहीं, विचार के धरातल पर भी समन्वयी चेतना का प्रतिफलन देखा जा सकता है। यहॉ नकार में, अभिधेय पक्ष का आस्तिक चैतन्य, स्वय बोलता-सा अनुभव में आता है। देखिए—

नहिं गौस है रे नहिं नैन है रे, नहिं मुख है रे नहिं बैन है रे।
नहि ऐंन है रे नहिं ग़ैन है रे, नहिं सैंन है रे न असैन है रे ॥
नहि पेट है रे नहिं पीठ है रे, नहिं कडवा है नहि मीठ है रे।
नहिं दुश्मन है नहि ईठ है रे, नहि सुन्दर दीठ अदीठ है रे ॥

उसकी अनुभूति, नकार में भी विद्यमान है।

27. सहजानन्द : प्रस्तुत रचना दोहा-चौपाई शैली में रची गई है, जिसमे चार दोहों के साथ 20 *चौपई* [चौपाई] छन्दों की योजना है। रचनाकार ने सहजानन्द भाव को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए जिज्ञासु-साधक-चेतना के उत्कर्ष को रेखांकित किया है। साधना-मार्ग पर चलने के लिए सर्वप्रथम आडम्बर-पाखण्ड का परित्याग आवश्यक बताया गया है। पन्थ-सम्प्रदायों में जो चर्या-विधान देखने को मिलते हैं, जैसे सन्ध्या, जप-माला, छापा-तिलक, व्रत-तीर्थ अथवा सुन्नत रोज़ा-नमाज, हज-यात्रा आदि या फिर पाठ-विधि का विधान, सुन्दरदास की दृष्टि में तत्त्वदर्शन होने पर उन सबसे कोई सहायता नहीं मिलती। तत्त्वज्ञान पाने के लिए तो—*सहजै नाम निरंजन लीजै,* का आधार पर्याप्त है। इस नाम स्मरण से ही तो ध्रुव-प्रह्लाद, गोरख-गोपीचन्द अथवा कबीरादि सन्त, जीवन में ही सन्तरण पा गए थे। यह उपशीर्षक सहजानन्द स्वयं ही यह व्यंजना कराने में सक्षम है कि विचार-साधना में न तो कर्मकाण्ड की और न काया-कष्ट की आवश्यकता रहती है। साधना-उत्कर्ष में परम विचार के साथ सहज ही तादात्म्य होता जाता है। ऐसे सहज की प्राप्ति में, समस्त बाह्याचार बाधक ही बने रहते हैं। सुन्दर के शब्दों मे सन्त-वाणी द्वारा प्रतिपादित सहज ज्ञान, सहज परिचय होने पर ही मिल पाता है। देखिए—

हिंदू की हदि छाड़ि कै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हियाँ, एकै राम अलाह ॥

28. गृह वैराग बोध : 21 रुचिरा छन्दों में परिसमाप्त यह लघु रचना, गृहस्थ *एवं वैरागी जीवन जीनेवालों के लिए, अपने-अपने पक्षों को बड़ी सामर्थ्य के साथ* प्रस्तुत करती है। रुचिरा छन्द मे 14, 16 की यति के साथ 30 मात्राएँ होती है और जिसके अन्त में जगण [।ऽ।] का निषेध बताया गया है। यही नहीं, छन्दशास्त्र में रुचिरा के एक अन्य भेद में यति का विधान 16, 14 पर बताते हुए अन्त में दो गुरु [ऽऽ] होना आवश्यक बताया है। यह लक्षणा ताटंक छन्द का भी है। पर, ताटंक के

अन्त मे मगण [SSS] का होना आवश्यक रहता है। *गृह वैराग बोध* रचना मे छन्द ताटंक ही है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से, सन्त-विचार में गृह-त्याग का कभी भी समर्थन नही हुआ। हॉ, घर मे रहते हुए ही निष्काम अथवा अनासक्ति भाव की प्रधानता पर जोर दिया गया है। अत· इस रचना मे गृहस्थ एवं विरक्त के भाव-विचारों के माध्यम से सन्त सुन्दरदास, गृहस्थ जीवन के सुख एवं विरक्त जीवन की सात्विकता को, एकांगी होने से बचाते है और गृहस्थ में वैराग्य एवं विरक्त में सामाजिक लोक मंगल की प्रवृत्ति [-चेतना] के होने की पक्षधरता करते हैं। तर्क यह है कि संन्यासी भी तो गृहस्थ जीवन पर ही आश्रित रहता है और गृहस्थ की प्रेरणा-शक्ति सन्यासी जीवन से ही मिलती है। पर, दोनो के गुण-दोषों की सीमाएँ भी है। इसीलिए इस रचना मे सुन्दरदास, दोनो पक्षों में संवाद के द्वारा अपने-अपने विशेष गुणों की प्रस्तुति के साथ, जीवन की सन्तुलित नीति को अपनाते हुए, दोनों के समन्वय पर बल देते है। अपने पक्ष के समर्थन मे वे बन और सिंह का उदाहरण देकर, दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता बताते हैं और अश्व के दोनों कानों द्वारा ही, अश्व की शोभा बताकर, अपने निर्णय की पुष्टि करते है। उनका कथन-साक्ष्य देखिए—

विरक्त धर्म रहै जु गृही तें, गृहि कौं बिरक्त तारै जू।
ज्यों बन करै सिंघ की रक्षा, सिंघ सु बनहिं उबारै जू॥
विरक्त सु तौ भजै भगवन्तहिं, गृही सु ताकी सेवा जू।
अश्व के कान बराबर दोऊ, जती सती कौ भेवा जू॥

29. हरिबोल चितावनी : 30 दोहोंवाली इस लघु रचना का प्रतिपाद्य, मनुष्य जीवन में होनेवाली भूलों को ध्यान में रखते हुए, सावधान एवं सचेष्ट रहकर, दुर्लभता से प्राप्त इस जीवन के प्रत्येक-दिन को ही नहीं, प्रत्येक क्षण को, अधिक से अधिक उपयोगी, सुख-आनन्द की अनुभूति पाने के प्रयत्न में, व्यतीत करने की प्रेरणा देनेवाला है। सन्त-दृष्टि को सर्वोपरि रखते हुए सुन्दरदास ने मनुष्य-जीवन के होने को, मुक्त कण्ठ से सराहा है। जीवन के इस प्रकार के रेखांकन में मूल विश्वास यही रहता है कि मनुष्य-जीवन की सार्थकता, हरि-शरणागति के बिना, अधूरी है। इसीलिए रचनाकार प्रत्येक छन्द में उलाहना भरी व्यंजना कराते हुए यही कहता है कि—हिरदै भीतरि पैठि करि अन्तःकरण बिरोल, अर्थात् जीवन का परम सत्य आत्मा एव परम मूल्य परमात्मा का अनुभव किए बिना, जीवन व्यर्थ ही चला जाता है। भोग-विलास अथवा सम्पत्ति-संग्रह, सन्त-दृष्टि में श्रेय नही माने गए। यह रचना उस समय की सामाजिक-राजनीतिक जीवन की अभिमान-दर्प भरी ज़िन्दगी में और आज भी, नया कुछ सोचने के लिए प्रेरित करती रही है। ये पक्तियाँ पढते हुए सन्त कवि का अभिप्रेत, स्वयं अनुभव किया जा सकता है—

किये रुपइया एकठे चोकूटे अरु गोल।
रीते हाथनि वै गए (सु), हरि बोलौ हरि बोल ॥
मूंछ मरोरत डोलई, ऐंठ्यौ फिरत ठठोल।
ढेरी ह्वै है राष की (सु), हरि बोलौ हरि बोल ॥
माल मुलक हय गय घने, कामिन करत कलोल।
कतहू गये बिलाइकें (सु), हरि बोलौ हरि बोल ॥

रचना की दृष्टि से दोहे के चरणान्त में *हरि बोलौ हरि बोल* की आवृत्ति, समूह वाचक होकर मुखर हुई है, जिसके द्वारा अनुगामी समाज मे, श्रद्धा-आस्तिकता भाव की तुष्टि होती रही है। वैसे भी, आसक्ति-मोह मे जकडे हुए मनुष्य को यह सन्देश भी है कि सीमित जीवन से बाहर निकलकर, हृदय-चैतन्य को सामूहिक-सार्वभौम जीवन से जोडकर देखो। यही जीवन की सार्थकता है। इसीलिए कहा है—

बाकि बुराई छाडि सब, गांठि हृदै की षोल।
बेगि बिलंब क्यौ करत है (सु), हरि बोलौ हरि बोल ॥

30. तर्क चितावनी : प्रस्तुत लघु रचना का प्रतिपाद्य 56 *चौपई* छन्दों में समायोजित है। इस रचना का उद्देश्य जीवन में नैतिक, साधनात्मक एव आध्यात्मिक अनुभवों को, अनेकानेक युक्तियों [तर्क या दलीलो] द्वारा यह प्रतिपादित करना है कि मनुष्य-जीवन अनेक सुकर्मो के परिणामस्वरूप मिलता है। इसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। इसमे रचनाकार जन-समाज के आमने-सामने होकर सीधे प्रश्न करता है कि क्या तुम्हारी बुद्धि इतनी ही है, जो तुम (भोग के लिए) जी रहे हो? क्या यही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए अर्थ-व्यंजना बहुत दूर तक जाती है कि सारा जीवन बालक-किशोर, युवक-प्रौढ़ होते-होते अर्थात् वृद्धावस्था की मानसिकता तक पहुँचते-पहुँचते, सभी अपने को एषणाओं के जाल में फँसा पाते हैं। फिर भी, अहंकारवश उस जकडबन्दी को नहीं समझ पाते और जीवन रूप मे मिला अमूल्य अवसर यों ही गँवा देते है। क्या मनुष्य जैसे जीवन का साध्य इतना ही है? क्या हरि-प्रभु के असीम चैतन्य में प्रवेश पाना मनुष्य-जीवन का साध्य नहीं हो सकता? पूर्ण सत्य को पाए बिना, जीवन-काल यों ही समाप्त हो जाए? अर्थात् एकांगी जीवन जीना उचित है। माना कि घर-बाहर, देश-विदेश में व्यक्ति द्वारा अर्जित धन-वैभव की तूती बोलती हो, पर नर-देह पाने का लक्ष्य इतना ही भर नहीं कहा जा सकता। सन्त की तर्कपूर्ण चेतावनी का सन्देश इन शब्दों में पढ़िए—

देश बिलाइति हाथी घोरे। ज्यौं ज्यौ बाँधे त्यौं त्यौं थोरे ॥
करि संतोष न बैठे हारी। अइया मनुषहुं बूझि तुम्हारी ॥
सकल सिरोमनि है नर देहा। नारायन को निज घर येहा ॥
जामहिं पइये देव मुरारी। अइया मनुषहुं बूझि तुम्हारी ॥

31. विवेक चितावनी : कुल 40 चौपाई छन्दो के कलेवर मे ही प्रस्तुत रचना का प्रतिपाद्य समाहित है। रचनाकार ने जीवन की अनित्यता एव परिवर्तनशीलता को आधार बनाकर, शरीर की नश्वरता के उदाहरण से, मनुष्य-जीवन मे विवेक जगाने की प्रेरणा दी है। लक्ष्य यही है कि मनुष्य-जीवन की सर्वाधिक उपयोगिता किस प्रकार सिद्ध हो अथवा हो सकती है? जीवन की मूल्यवत्ता की पहचान के साथ, समय-बोध कर पाना बहुत आवश्यक है। आज भी अत्याचारी, दुराचारी, उग्रवादी या हत्यारे जैसे दुष्ट, असामाजिक लोगों के चित्त में इन पंक्तियों के मर्म को बैठा पाने से, साधु-हृदय का मन्तव्य पूरा किया जा सकता है। अन्यथा, ऐसी रचनाओं के पारायण से सज्जन-हृदय तो साधु-वृत्ति का बना ही रहता है। प्रत्येक छन्द के चरणान्त मे रचनाकार का यह कहना—*समझि देखि निश्चै करि मरना,* जन-समाज को सीधा सम्बोधन कहा जा सकता है। मृत्यु को, जीवन का अन्तिम सत्य मान लेने पर, आचरण की भूमिका में, शुभ सामाजिक आचरण की अधिक सम्भावना रहती है। जन-विश्वास में कर्म-बीज का फल, उसी रूप में पाने की बात कही जाती है। कहा भी है—जैसा बोओगे, वैसा काटोगे। धन के अधिक संग्रह में, तृष्णाजन्य अहकार की वृत्तियो का ही अधिक संग्रह होता है, जो हृदय-चैतन्य को अवरुद्ध करता रहता है। इसीलिए सुन्दरदास उपदेश देते हुए कहते हैं—

देश बिलाइति घोरा हाथी। इन मै कोउ न तेरा साथी ॥
कबहू काहू दुःख न दीजै। अपनी घात आप क्यौं कीजै ॥
जो बाहै लुनियेगा सोई। अमृत षाइ कि विष फल होई ॥
इहै बिचारि अशुभ सौ टरना। संमुझि देषि निश्चै करि मरना ॥

32. पवंगम छन्द : छन्द प्रधान इस रचना में विरहिणी चेतना द्वारा प्रिय-मिलन की पुकार निहित है। वैसे, रीतिकाल के रचनाकार सन्त सुन्दरदास ने प्रस्तुत 18 पवंगम छन्दों मे अलकार एवं छन्दशास्त्र के कौशल को भी अभिव्यक्त किया है। रचना में लाटानुप्रास [शब्द अथवा वाक्यो की आवृत्ति], जिसमें अन्वय करते हुए ही, अर्थ-परिवर्तन हो जाता है, के माध्यम से रचनाकार ने एक ही शब्द प्रयोग में चार-चार अर्थ सन्निहित किए है। ऐसा अलंकार-कौशल निश्चित ही रीतिकालीन प्रवृत्तियो को ही प्रधानता देता है। पवंगम छन्द की यह विशेषता होती है कि छन्द के प्रत्येक चरण का अन्तिम शब्द एक-सा होता है, पर अर्थ अलग-अलग होते हैं। इस छन्द को पवगा या चान्द्रायण भी कहा जाता है। इसके प्रत्येक चरण में 21 मात्राएँ होती हैं और 8, 13 पर यति का विधान रहता है। इससे भिन्न चन्द्रायण *छन्द* में यति 11, 10 मात्राओं पर होती है। अन्तिम चरण में 'परि हां', का प्रयोग कोष्टकवद्ध रहता है, जो छन्द का अंग होते हुए भी, अर्थ का अंग नहीं बनता। इससे संवाद-शैली में जीवन्तता का अनुभव अवश्य होता है। कुछ रचनाकार

इस छन्द को अरिल छन्द भी मानते है। विचार के धरातल, पर प्रस्तुत रचना मे बिरहिणी जीवात्मा की विरहाकुल वेदना, सन्त-चेतना के अनुरूप अभिव्यक्त हुई है। विरहानुभूति मे घोष अथवा कर्णकटु वर्णो का प्रयोग प्रायः वर्जित माना जाता है। वर्ण-अक्षरो की योजना में, र-ल वर्णो के आधिक्य के कारण, माधुर्य गुण प्रधान रहने से, संवेदना की तीव्रता का भी अनुभव किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिए–

बिरह जरावत मोहि न कबहूं आरसी।
बिरहनि अति बेहाल न देखत आरसी ॥
शीतल मंद सुगंध पवन पुनि आरसी।
[परि हां] सुन्दर पिय परदेश न आयौ आरसी ॥

33. अडिला छन्द : यह लघु रचना भी छन्द प्रधान है। अडिला को अडिल्ला अथवा डिल्ला भी कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में 16 मात्राएँ होती हैं। किन्तु अन्त में भगण [ऽ।।] होने के कारण यह चौपाई छन्द नहीं हो सकता। अडिला में अन्त मे दो गुरु [ऽऽ] होने से यह लहुआ [अन्त मे एक गुरु] या पद्धरि [8, 8 मात्राओं पर यति] भी नहीं होता। छन्द की तकनीक के साथ ही शब्द-प्रयोग में कवि-कौशल अर्थात् काव्यशास्त्रीय एवं व्याकरण शास्त्रीय दक्षता एवं श्लेष-यमक शब्दों का प्रयोग दृष्टव्य है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से विरहिणी की मानसिकता के अनुरूप ही संसार की असारता का वर्णन किया गया है। ऐसी मनोदशा मे भावोदय एवं भाव-शमन की चित्तवृत्ति को कवि ने बखूबी रेखांकित किया है। यमक के सहारे एक-एक शब्द मे चार-चार अर्थो का निर्वाह कवि-प्रतिभा का ही परिचायक है। रचना मे कवि का भाषाधिकार, स्वय अनुभव किया जा सकता है। लगता है लाटानुप्रास के अवलम्ब से पण्डित कवि सुन्दरदास ने पाण्डित्य दर्शाते हुए भी, सन्त-कवि की मूल चेतना का कहीं परित्याग नहीं किया। एक उदाहरण देखिए–

बिरह बिथा करि सूकत मासा। लोग सु पावन लागे मासा ॥
पिय बिन आयौ फागुन मासा। सुन्दर बिरहनि तोला मासा ॥

34. मडिला छन्द : यह बीस मडिला छन्दों की रचना है। यह छन्द भी 16 मात्राओं का छन्द है, जिसके अन्त में दो गुरु [ऽऽ] रहते हैं। अडिला छन्द से इसका अन्तर यह है कि अडिला मे यमक के सहारे शब्द के चार अर्थ तक रहते हैं। वहीं मडिला में प्रयुक्त दो शब्दों में ही यमक का विधान रहता है। यहाँ यमक अलंकार के कारण ही लाटानुप्रास होता है। सभी छन्दो में सन्त-भाव की मूल चेतना, वस्तु-अपरिग्रह वृत्ति के माध्यम से, सर्वत्र सुरक्षित देखी जाती है। दृश्य जगत् की नश्वरता के प्रतिपादन से अनासक्ति-भाव जगाने के लिए, रचना का मूल सन्देश समझना चाहिए। ऐसे वर्णन को हृदयंगम करने से मनुष्य की जीवन-चेतना, व्यापक सत्य पाने के लिए जिज्ञासु होने लगती है–

पाट पटंबर सोना रूपा। भूलौ कहा देषि यह रूपा॥
छिन मैं बिलै जात नहिं बारा। सुन्दर टेरि कह्या कै बारा॥

35. बारहमासो : प्रस्तुत बारहमासो रचना मे 13 *पवगम* [= अरिल या चान्द्रायण] छन्द है। इस छन्द मे 11, 10 की यति के साथ प्रत्येक चरण मे 21 मात्राएँ होती है। बारहमासा शैली का प्रतिपाद्य, वर्प के बारह महीनों मे, विरहिणी की मानसिकता को, ऋतु-प्रभावों के अनुरूप अभिव्यक्त करना प्रमुख रहता है। साथ ही उसकी प्रिय-मिलन व्याकुलता को कलात्मक ढग से मुखर करना भी कवि-लक्षित रहता है। भाषा-काव्यों मे ऋतु-परिवर्तन से सम्बन्धित यह रचना-पद्धति लोक-संस्कृति से जुड़कर, शताब्दियो तक जीवन्त बनी रही है। और अब यह एक काव्यरूढि के रूप में विवेचित होती है। इस बारहमासा शैली के द्वारा वर्ष के बारह महीनों मे, काव्यरूढ़ियों के सहारे विरहिणी की मनोदशा का चित्रण करना प्रमुख रहता है। सन्त कवि सुन्दरदास ने विरहिणी की मानसिकता को बडी सूक्ष्मता से उकेरा है। बारह महीनों के मौसम मे, उत्तर भारत की ऋतुओं द्वारा, मन पर पड़नेवाले प्रभावो को ही ऑका गया है। बारह महीनों के बाद, तीसरे वर्ष मे अधिक मास [= मल मास, लौद] के रूप मे तेरहवॉ महीना भी होता है। सुन्दरदास ने तेरहवे महीने को, फलागम के रूप मे प्रस्तुत किया है। महीनों का प्रारम्भ प्राय· भारतीय सवत्सर के अनुसार चैत्र मास से ही शुरू हुआ माना जाता है। पूरी रचना में सन्त-दृष्टि सम्यक् रूप में मुखर दिखाई देती है। इसमें विरहिणी [= जीवात्मा] की बेचैनी [= तालाबेली] बडी प्रभावी बन पडी है। विरही जनो के लिए वर्षा-काल, भावोद्दीपन के कारण, दुर्दिन एव कठिन माना जाता है। सुन्दर-रचित भादो मास मे विरहिणी की व्याकुल मनोदशा देखिए—

भादौ गहर गभीर अकेली कामिनी।
मेघ रह्यौ झर लाइ चमकत दामिनी॥
बहुत भयानक रैनि पवन चहुँ दिसि बहै।
[परिहां,] सुन्दर बिन उस पीव बिरहिनी क्यौं रहै॥

36. आयुर्बल भेद आत्मा-विचार : कुल तेरह चौपई छन्दों में परिसमाप्त इस लघु रचना द्वारा, जीवन-काल में होनेवाले कृत कर्मो की सार्थकता को परखते हुए, मनुष्य-जीवन में प्राप्त आयु की सार्थकता पर विचार करना, रचनाकार का उद्देश्य कहा जा सकता है। जीवन के प्रत्येक दिन-क्षण के व्यतीत होने पर, बार-बार विचार करना और उसमे जीवन की सार्थकता को पहचानना ही, रचना का मूल सन्देश है। सन्त कवि सुन्दरदास का मानना है कि इस शरीर में स्वयं प्रकाशमान अजर-अमर आत्मतत्त्व [= चेतनात्मा] का, शरीर से बना रहनेवाला सम्बन्ध कितना विलक्षण है कि दोनों, जड़-चेतन होने के कारण, भिन्न स्वभाव के होते हुए भी, एक साथ रहते

हैं? रचना का उद्देश्य यह जिज्ञासा पैदा करना भी है कि अनित्य-नित्य, जड-चेतन, शरीर-प्राण रूप चेतनात्मा का यह समागम, अद्भुत होने के कारण, कितना विचारणीय है। इस रूपाकार में क्षर-अक्षर के सम्मिलन के अनुभव जन्य प्रज्ञा-प्रकाश की चेतन किरणें, हमारे समूचे जीवन को आलोकित करती हैं, कर सकती हैं। अतः जीवन-आयु को सुपथगामी बनाए रखना चाहिए। वैसे तो, भौतिक शरीरों की आयु [= काल] सुनिश्चित है, चाहे शरीर विधाता ब्रह्मा का हो अथवा तुच्छ समझे जानेवाले कीट-पतगों का हो। सृष्टि में जन्म लेकर मरना अवश्यम्भावी है। अत· अपनी-अपनी आयु-सीमा मे, विशेषत· मनुष्य के जीवन-काल में अकाल, खण्ड मे अखण्ड, क्षर में अक्षर, आकार में निराकार, शब्द में अर्थ की तरह, सूक्ष्म-व्याप्ति को समझना चाहिए। रचना मे विश्वास जनित मिथकों की अपनी व्यंजना होती है। जैसे सतयुग में मनुष्य की आयु का एक लाख वर्ष होना, त्रेता में दस हजार वर्ष होना, द्वापर मे एक हज़ार वर्ष होना और कलियुग में सौ वर्ष निर्धारित मान लिया जाना, इसी प्रकार की काव्यरूढ़ि है। इतनी लम्बी आयु पाकर भी, जीवन की सार्थकता न मिल पाने पर, पछताना व्यर्थ है। मनुष्य, शरीर-सीमा में बँधा रहने के कारण अपने व्यापक वर्तमान की सोच भी नहीं पाता। सच तो यह है कि यह जीवन, एक बड़े एवं अखण्ड जीवन का ही अंग है। वह अखण्ड जीवन सदा वर्तमान और समान रहता है। उसकी व्याप्ति को समझे बिना समतामूलक विचार का उदय नहीं हो पाता। रचना की कुछ पंक्तियाँ पढ़िए—

यौं लघु दीरघ घट कौ नाश। आतम चेतन स्वयं प्रकाश ॥
अजर अमर अबिनाशी अंग। सदा अखंडित सदा अभंग ॥
घटै न बढ़ै न आवै जाइ। आतम नभ ज्यौं रह्यौ समाइ ॥
जो कोई यह समझै भेद। संत कहै यौं भाषै वेद ॥

एक बात और है कि रचना का शीर्षक अपेक्षाकृत लम्बा होने से, मूल-सन्देश की पकड कठिनाई से हो पाती है।

37. त्रिविध अन्तःकरण भेद : प्रस्तुत लघुतम रचना में तत्त्वचिन्तक एवं प्रज्ञापुरुष सन्त सुन्दरदास ने अन्तःकरण के सूक्ष्म ताने-बाने को, भाषाबद्ध किया है। रचना मे कुल नौ चौपई छन्द हैं, जिनमे अन्तःकरण चतुष्ट्य में आनेवाले मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार अगों का विवेचन, एक-दूसरे से सम्बन्ध निर्धारित करते हुए, प्रस्तुत किया गया है। रचनाकार ने उक्त चारों अंगो के पुनः तीन-तीन उपभेद किए हैं और फिर बारह उपांगों के ताने-बाने को विवेचित किया है। ये सभी अंग, पुनः बाह्य एव अन्तः होने के कारण, अपना-अपना कार्य-क्षेत्र निर्धारित करते हैं। पर, समूची रचना का केन्द्रीय विचार, अन्ततः अद्वैत की भूमिका में समाहित होना है। इस प्रकार के भेदोपभेदवाले विवेचन में रचनाकार की आचार्य कवि की प्रकृति मुखर

है। फिर भी लेखक विवेचन की मौलिकता पर—त्रिधा भेद सद्गुरु तें पाये, कहकर अपना दावा नहीं करता। लगता है कि विवेचन, शास्त्र प्रतिपादित न होकर गुरु-परम्परा से प्राप्त तत्त्व-चिन्तन का परिणाम है। हॉ, प्रस्तुत चिन्तन में अन्तःबाह्य उभय वृत्तियों से परे एक और परम चेतना के होने का उद्‌घाटन किया गया है, जो अपनी परमता मे समाधि दशा [= ब्रह्मानन्द अनुभव] को रेखांकित करता है। प्रतिपाद्य की दुरूहता को, रचनाकार ने प्रश्नोत्तर शैली द्वारा, सहज-सरल बनाने का प्रयत्न किया है। त्रिविध भेद मे प्रकृति-प्रभाव और प्रवृत्ति के कारण ही, स्तर-भेद बताया गया है। एक उदाहरण में मन एव अहकार वृत्ति के स्तर-भेद को देखा जा सकता है—

> उहै बहिर्मन भ्रमत न थाकै। इंद्रिय द्वार बिषै सुख चाखै ॥
> अंतर्मन यौं जानै कोह। सुन्दर ब्रह्म परम मन सोहं ॥
> बहि जो अह देह अभिमानी। चारि वर्ण अंतिज लौं प्रानी ॥
> अंतः अहं कहै हरिदासं। परम अह हरि स्वयं प्रकासं ॥

इसी प्रकार बुद्धि-विभेद विचारणीय हैं—

> बहिर्बुद्धि रज तम गुण रक्ता। अंतर्बुद्धि सत्व आसक्ता ॥
> परम बुद्धि त्रय गुण ते न्यारी। सुन्दर आतम बुद्धि बिचारी ॥

38. **पूरबी भाषा बरवै** : देश के पूर्वांचलो मे बरवै छन्द, मध्यकाल से ही लोक-भाषा में प्रिय छन्द बना रहा है। इधर, सुन्दरदास पश्चिमी भू-भाग में बिचरते हुए भी, भाषा-प्रयोग के धरातल पर प्रादेशिक सीमाओ को तोड़ते हुए, बरवै छन्द में बखूबी अभिव्यक्ति करते रहे हैं। सन्त-विचार-चेतना की विशेषता यही है कि छन्द या भाषा कोई भी हो, उनका प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन ही रहा है। इसमें प्रयुक्त प्रतीक, गूढ़ार्थक भले ही हों, इनमें विरहिणी की व्याकुलता मार्मिक होकर उभरी है। *पूरबी भाषा* शीर्षक देने का प्रत्यक्ष अर्थ तो पूर्वी बोली का उपयोग ही है, जबकि सांकेतिक अर्थ, पूर्व अर्थात् आदि-मूल से चेतना को जोडना है। वैसे भी, बरवै छन्द अपनी सरसता एवं प्रासादिक प्रवाह में, प्रतीक रूप लाक्षणिक शब्दावली के लिए उल्लिखित रहा है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में 19 मात्राएँ और 12, 7 पर यति-विधान देखा जाता है। 19 छन्दोंवाली प्रस्तुत लघु रचना में आध्यात्मिक चेतना के साथ ही अभिधात्मक अर्थ भी कम प्रेषणीय नहीं है। प्रयुक्त शब्दावली का चयन, भाषा-प्रवाह और फिर विरहिणी [सुहागिनी] के मनोभावों की व्यंजना, रचना की परिपक्वता बताती है। यही नही, सन्त-चेतना की सहज ग्राह्यता के कारण साकेतिक शब्दावली की निगूढ़ता स्वतः उद्‌घाटित होती चलती है। रचना में ऋतुओं का प्रभाव एवं प्रेम-हिण्डोले के रूपक, अध्यात्म के रहस्यों को सहजता के साथ, ग्राह्य बनाते चलते हैं। आचलिक भावों के स्पर्श एव गेयत्व से भी रचना अधिक

मार्मिक बन पड़ी है। एक उदाहरण में लोक-बोध का मार्मिक एवं आत्मीय पक्ष प्रस्तुत है, जो छन्दांश में स्वयं अनुभव किया जा सकता है—

अंब डार पर बैसल कोकिल कीर।
मधुर मधुर धुनि बोलइ सुखकर सीर ॥
सब के हू मन भावन सरस बसंत।
करत सदा कौतूहल कामिनि कंत ॥
झूलत बैसि हिंडोरनि पिय कर संग।
उत्तम चीर विराजल भूषन अंग ॥
एक सेज पर कामिनि लागलि पाइ।
पिय कर अंगहि परसत गइलि बिलाइ ॥
सरिता मिलइ समुद्रहिं भेद न कोइ।
जीव मिलइ परब्रह्महिं ब्रह्मइ होइ ॥

कुल मिलाकर प्रथम ग्रन्थ *ज्ञान समुद्र* से लेकर *पूरबी भाषा बरवै* तक छोटी-बड़ी सभी अड़तीस रचनाओं की कुल छन्द संख्या 1530 है। अकेले *ज्ञान समुद्र* में ही छन्दों की संख्या 314 है। आगे छन्द-संख्या की दृष्टि से तीन बड़े ग्रन्थ हैं—*साखी, सवैया* और *पदावली* है, जिनकी छन्द-संख्या यथास्थान दी गई है।

39. साखी ग्रन्थ : सुन्दर-रचित *साखी* [दोहा]-छन्द रचनाएँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं कि ये कबीर, दादू के बाद, सन्त-विचारधारा के धरातल पर, अध्यात्म के साथ ही समाज-इतिहास और भाषा के स्तर पर भी, रचनाकार के विचार-दर्शन को आगे बढ़ाती हैं। इनमें ख वर्ण के लिए ष वर्तनी को अपनाए जाने के सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक है कि मध्यकाल में यही वर्तनी रूप प्रायः प्रचलित रहा है। इसीलिए साखी वर्तनी रूप के साथ-साथ साषी रूप भी बानी-भाषा में लिखा मिलता है। साखी शब्द का अर्थ है साक्षी, गवाह [= चश्मदीद गवाह] जिसने घटना अथवा अवस्था विशेष को अपनी आँखों से होते देखा हो अथवा साख या विश्वास के आधार पर निर्णय लेकर आचरण के लिए निश्चय प्रदान किया हो, वह साखी है और उसकी वाणी साखी-छन्द। यह शब्द संस्कृत के साक्षी शब्द का ही अपभ्रंश अथवा भाषा रूप है। साक्षी रूप दर्शक या द्रष्टा, ज्ञान की ऑखों से दृश्यों को देखकर ही अपनी राय निश्चित करता है। अतः कह सकते हैं कि सन्तों ने साखी काव्यरूप में, दोहे की तरह, रचना-प्रस्तुति अथवा काव्य-कौशल को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना, जितना कि जीवन और जगत के साक्षीभूत अनुभव को माना है। इसीलिए चाहे कबीर-दादू की साखियाँ हों अथवा सुन्दरदास की, इनका प्रतिपाद्य जीवन-व्यवहार के विविध पक्षों में, भेड़चाल के विरुद्ध, लोक-चेतना को जागृत करते रहना रहा है। जीवन और जगत की मानसिक एवं व्यावहारिक समस्याओं को सुलझा सकने के कारण ही कबीर ने साखी-रचना को, ज्ञान की ऑखों से देखे जानेवाला अनुभव-ज्ञान,

कहा है। इसी अर्थ मे साखी-रचना, ज्ञान की ऑख कहलाती है—

साखी आखी ग्यान की, समुझि देखु मन माहि।
बिन साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं ॥

यही नही, साखी-रचना को कबीर ने प्रभु-प्रेरणा का परिणाम भी माना है। देखिए—

हरिजी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर मे जीव है, जे कोइ पकड़ै तीर ॥

इधर, सन्त सुन्दरदास ने भी साखी-रचना को, सन्त-विचार-प्रतिपादन के साथ ही, लोक-हितार्थ माना है। यह रचना, परम्परा से प्राप्त विचार-अनुभव की भी समीक्षा करती चलती है। सुन्दर-रचित साखी-रचना में तो गुरु-गम्भीर विचार-चिन्तन और सन्त-दृष्टि का सार, निहित रूप में देखा जा सकता है, जो प्रायः बडे छन्दो में देखने को नहीं मिलता।

सुन्दरदास द्वारा रचित 1351 साखियों के भण्डार को, स्वय सुन्दरदास ने ही विषयानुसार 31 अंगों में व्यवस्थित करके प्रस्तुत किया है। इनमे अधिकांश अग [= अध्याय] ऐसे है, जो *सवैया ग्रन्थ* में भी हैं। और लगता है कि *सवैया* विशेष का सार, *साखी* विशेष मे दिया गया है। ऐसी अनेकानेक साखियॉ है, जो सवैयो का सार हैं। कुछ अंग ऐसे भी हैं, जो सवैया ग्रन्थ में तो हैं, पर साखी ग्रन्थ में नहीं है और कुछ ऐसे अग भी है, जो सवैया में नहीं है। छन्द-सुगठन की दृष्टि से साखी छन्द, सवैया से कही अधिक समासमय, मार्मिक एव स्मरणीय है। *साखी ग्रन्थ* के इकतीस अग इस प्रकार हैं—1. गुरुदेव कौ अंग, 2. सुमिरन कौ अग, 3. बिरह कौ अग, 4. बन्दगी कौ अग, 5. पतिब्रत कौ अग, 6. उपदेश चितावनी कौ अंग, 7. काल चितावनी कौ अग, 8. नारी-पुरुष श्लेष कौ अंग, 9. देहात्मा बिछोह कौ अंग, 10. तृष्णा कौ अंग, 11. अधीर्य उरांहने कौ अग, 12. विश्वास कौ अंग, 13. देह मलिनता गर्ब प्रहार कौ अंग, 14. दुष्ट कौ अग, 15. मन कौ अंग, 16. चाणक कौ अंग, 17. बचन बिबेक कौ अंग, 18. सूरातन कौ अंग, 19. साधु कौ अंग, 20. बिपर्ज्जय कौ अंग, 21. समर्थाई आश्चर्य कौ अग, 22. आपने भाव कौ अग, 23. स्वरूप विस्मरण कौ अंग, 24. सांख्य ज्ञान कौ अंग, 25. अवस्था कौ अंग, 26. बिचार कौ अंग, 27. *अक्षर बिचार कौ अंग, 28. आत्मानुभव कौ अंग, 29. अद्वैत ज्ञान कौ अंग,* 30. ज्ञानी कौ अंग और 31. अन्योऽन्य भेद कौ अग। इन अंगों में विवेचित विषय अपने आप में स्वतन्त्र एवं पूर्वापर सम्बन्धों से रहित है। इसलिए साखी-रचना, मुक्तक काव्य के घेरे में आती है। यद्यपि इन सभी में सन्त-विचारधारा समान रूप से प्रवाहित हुई है। साखी-छन्द में भाव-विचारों का समाहार करके प्रस्तुत करना, कवि-प्रतिभा की ही देन है। विचार-ज्ञान, यद्यपि सन्त-परम्परा में पूर्व-पूर्व ज्ञान-विचार का ही

कुछ-न-कुछ अंश विद्यमान देखा जा सकता है। शेष बहुत कुछ अपने युग की जिज्ञासा या अपेक्षाओ के कारण सामने आया है। किन्तु, साखी जैसे लघु आकार मे, विचार प्रधान आध्यात्मिक तत्त्वो को समाहित कर पाना, कवि प्रतिभा की देन कहा जा सकता है। सुन्दरदास ने साखी सम्वन्धी विचार को अपने *एक पद* मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

अब हम जान्यौ सब मैं साषी।
साषि पुरातन सुनी आगिली, देह भिन्न करि नाषी ॥
साषी सनकादिक अरु नारद दत्त कपिल मुनि आषी।
अष्टावक्र बसिष्ट ब्यास-सुत उन प्रसिद्ध यह भाषी ॥
साषी रामानंद गुसांई, नाम कबीरहि राषी।
साषी संत सकल ही कहिये, गुरु दादू यह दाषी ॥
साषी कोऊ और जानतें, मन मैं यह अभिलाषी।
अब तौ साषी भये आपु ही, सुन्दर अनुभव चाषी ॥

40. सवैया ग्रन्थ : सुन्दर-रचनाओ मे सर्वाधिक प्रचारित एवं प्रसिद्ध रचना *सवैया ग्रन्थ* है। इस ग्रन्थ का प्रचार *सुन्दर विलास* शीर्षक से अधिक हुआ है, जो किसी पाठक-समीक्षक का दिया हुआ नाम-शीर्षक है। रचनाकार ने यह नाम नहीं दिया। सुन्दर की हस्तलिखित पोथियों में सवैया [सवइया] नाम ही मिलता है। यह शीर्षक, अन्य छन्द-प्रधान रचनाओं की तरह, कवि-रुचि का ही परिचायक है। इस शीर्षक के दिए जाने का प्रमुख कारण यह भी है कि रचना का कलेवर सवैया [कवित्त] छन्दों से ही रूपायित हुआ है। उधर, *सुन्दर विलास* शीर्षक में रीतिकालीन प्रवृत्ति ही रेखांकित हुई-सी लगती है। वैसे, सवैया-रचना-कौशल की दृष्टि से, यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि सन्त कवि सुन्दरदास को, समूचे रीतिकाल में जो महारत हासिल थी, वह अन्यत्र दुर्लभ कही जा सकती है। वे सवैया-रचना में सिद्धहस्त और शायद सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। छन्दशास्त्र की दृष्टि से सवैया छन्द वर्णिक भी है और मात्रिक भी। सुन्दरदास ने दोनों ही प्रवृत्तियों को छन्द में समायोजित किया है। विवेच्य *सवैया ग्रन्थ* में कुल 563 सवैया छन्दों का संकलन है। सवैया के प्रति रुचि का एक प्रमाण यह भी कहा जा सकता है कि उक्त रचना में सवैया के चार उपभेदों के ही कुल 272 छन्द मिलते हैं। सवैया के अन्य पर्याय हैं—किरीट, वीर, केतकी, सवइया। ये नाम भी सवैया ग्रन्थ में हैं। विभाजन-संख्या की दृष्टि से सवैया उपशीर्षक से कुल 42 छन्द, *इंदव* [मत्तगयंद] उपशीर्षक से 222 छन्द, दुमिला उपशीर्षक से 2 तथा *हंसाल* उपशीर्षक से 6 छन्द संकलित हैं। सवैया छन्द के आस-पास ही कवित्त एवं कुण्डलिया छन्द हैं। कवित्त छन्द-रचना में मनहर उपशीर्षक मिलता है, जिसके कुल 289 छन्द हैं। मनहर छन्द को इकतीसा सवैया भी कहा जाता है। शायद सुन्दर ने, अपने मित्र बनारसीदास द्वारा दिए गए निष्कर्ष

के कारण ही, मनहर को सवैया मे गिना है। ग्रन्थ मे *कुण्डलिया* छन्द कुल दो ही हैं। मनहर छन्द, यद्यपि सवैया नही है, पर अपनी मनोहर गति-यति एवं विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यह रीतिकालीन रचनाकारों का प्रिय छन्द रहा है।

सवैया ग्रन्थ के पॉच सौ त्रिसठ छन्दो को, विषयानुसार 34 अगो मे व्यवस्थित किया गया है। ये अंग इस प्रकार हैं—1. गुरुदेव कौ अग, 2. उपदेश चितावनी कौ अंग, 3. काल चितावनी कौ अंग, 4. देहात्मा बिछोह कौ अंग, 5. तृष्णा कौ अंग, 6. अधीर्य उराहने कौ अग, 7. विश्वास कौ अंग, 8. देह मलिनता कौ अग, 9. नारी निन्दा कौ अंग, 10. दुष्ट कौ अंग, 11. मन कौ अंग, 12. चाणक कौ अग, 13. विपरीत ज्ञानी कौ अंग, 14. बचन बिबेक कौ अंग, 15. निर्गुण उपासना कौ अंग, 16. पतिब्रत कौ अग, 17. बिरहनि उराहने कौ अग, 18. शब्दसार कौ अग, 19. सूरातन कौ अंग, 20. साधु कौ अंग, 21. भक्ति-ज्ञान मिश्रित कौ अग, 22. बिपर्यय शब्द कौ अग, 23. अपने भाव कौ अग, 24. स्वरूप बिस्मरण कौ अग, 25. सांख्य कौ अंग, 26. बिचार कौ अग, 27. ब्रह्म नि:कलक कौ अग, 28. आत्मानुभव कौ अग, 29. ज्ञानी कौ अंग, 30. निरशंसै कौ अंग, 31. प्रेम पराज्ञानी कौ अंग, 32. अद्वैत ज्ञान कौ अंग, 33. जगन्मिथ्या कौ अंग एवं 34. आश्चर्य कौ अंग। इन अगो में संकलित सवैया छन्दों मे, रचनाकार का सर्वाधिक प्रिय एवं हयचढा छन्द *इन्दव* [मत्तगयद : सात भगण = SII] छन्द ही है। इस छन्द के अन्त में दो गुरु [= SS] के योग से 23 वर्ण रहते है। रीतिकालीन कविता में सवैया छन्द के प्रति आकर्षण के प्रमुख कारण हैं—ध्वनि-उच्चारण, वर्ण-अक्षर मैत्री एवं लय-गति-यति के साथ ही पाठन-प्रवाह। छन्द की *लय* एक ऐसा गुण है, जो छन्द में अन्यत्र दोष रहने पर भी, छन्द की आत्मा नहीं मरने देता। *सवैया* को संगीत के साज एवं राग-तालों के साथ भी सुनियोजित ढंग से निबद्ध किया जा सकता है। सुन्दर के सवैया छन्द पर गायन के विभिन्न प्रकार से प्रयोग होते रहे है। वैसे भी, छन्द-चरणों में सवाया होने के कारण ही इसे सवैया कहा गया है। क्योंकि, इसकी चार पक्तियों को, पाँच करके पढा जाता है। प्रथम पंक्ति को, पाँचवीं पंक्ति के रूप मे भी पढ़ने का विधान है। इसीलिए सुन्दरदास को सवैया छन्द का ही नहीं, अन्य छन्दों का भी आचार्य-कवि कहा गया है। इन्दव सवैया के प्रति सुन्दरदास का लगाव इसी बात से सिद्ध होता है कि सवैया ग्रन्थ का प्रथम छन्द भी इन्दव है और अन्तिम भी।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से सवैया ग्रन्थ के छन्दों में जन-विश्वास, लोक-साधना एव सात्विक भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण, इसे छन्दो का महाकाव्य कहा जा सकता है। अभिव्यक्त भावो मे ज्ञान-विचार, भाव-भक्ति, साधना-वैराग्य, नीति-सूक्ति एवं सामाजिक के आचरण के लिए दिशानिर्देश तथा सदाशयी भावो की मार्मिक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इसीलिए कुछ समीक्षको ने इसे ज्ञानसंहिता अथवा शान्त रस का महाकाव्य तक कहा है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से यह ग्रन्थ टकसाली

ब्रजभाषा का गौरवपूर्ण छन्द-काव्य, है। इसमें रचनाकार का अन्तःबाह्य कवि-व्यक्तित्व देखा जा सकता है। इस विशिष्ट ग्रन्थ के द्वारा सन्तकवि सुन्दरदास का उल्लेख, साहित्य-इतिहास मे युगो तक, अपनी विशिष्ट पहचान के साथ, होता रहेगा। साखी-भाग से सवैया-अगों की तुलना करने पर लगता है कि सवैया ग्रन्थ में दस वे अंग भी है, जो साखी-ग्रन्थ में नही हैं। जबकि, साखियों में आठ वे अग हैं, जो सवैया ग्रन्थ मे नहीं हैं। छन्द-रचना मे शुद्धता के पक्षधर सुन्दरदास की मान्यता है कि छन्द में यति-भंग, अक्षर-मात्राओ की घट-बढ से छन्द लॅगड़ा समझा जाता है। ऐसी घट-बढ को उन्होंने उन्मादी [= शराबी, अथवा पंगु-गतिवाले] के समान, असंयत एव दोषपूर्ण बताया है। देखिए—

अक्षर घटि बढ़ि होइ, खुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि होइ, मनौ मतवारौ हल्लै ॥

कुल मिलाकर *सवैया-ग्रन्थ,* सुन्दर-रचनाओं मे एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण रचना है।

41. पदावली ग्रन्थ : प्रस्तुत पद-संग्रह में सुन्दरदास कृत 212 पद संकलित हैं। ये पद विभिन्न 27 रागों में विनियोजित है। रागों की ऐसी विविधता, रचनाकार की राग-दक्षता के साथ ही विषय-प्रसंग, पदों में अर्थ-सन्निवेश तथा गेयत्व के कारण और अधिक रेखाकित होती रही है। जन-विश्वास में यह मान्यता भी रही है कि सन्त सुन्दरदास गान-विद्या मे निपुण थे। प्रस्तुत संग्रह के पदों से यह बात प्रमाणित होती है। पदो मे ताल-लय की सूचना, पद-शीर्ष पर राग का उल्लेख, '*टेक*' वाली पक्ति का होना एवं पदों की संक्षिप्तता तथा ब्रजभाषा के सरल-तरल-ललित शब्दों की योजना से संगीत-तत्त्व, स्वयं मुखर दिखाई देते हैं। पदों में निहित भाव-प्रवणता, ऋतुओं के प्रभाव का उल्लेख तथा शब्द-संयोजन, वर्ण-मैत्री, ताल-लय का सम्पुट देखकर, संगीत पारखी सुखद विस्मय का अनुभव करता है। पद-रचना के सम्बन्ध मे भी सुन्दरदास ने अर्थपूर्ण चिन्तन किया है। राग ललित में जब वे—सन्तो पद में अचरज भारी, कहते हैं, तो अर्थपूर्ण सन्त-विचार की ओर पाठक-श्रोता की चित्त वृत्ति को केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। यही नहीं, जब वे *पद* में, पद का अर्थ-विचार करने पर ज़ोर देते है, तब पद-रचना के सम्बन्ध में कुछ अधिक सोचने के लिए विवश भी करते हैं। श्लेष के बल पर पद-सन्दर्भो को परखिए—

पद मैं निर्गुण पद पहचाना।
पद कौ अर्थ बिचारै कोई पावै पद निर्बाना ॥टेक ॥
× × ×
पद षोजे तें सब पद बिसरै, बिसरै ज्ञान रु ध्यांना।
पद कौ तात्पर्य सो पावै, सुन्दर पदहिं समांना ॥

सुन्दर-पदो मे प्रयुक्त भाषा-विचार के आधार पर कह सकते है कि आज के जमाने मे रचनाकार का ऐसा भाषाधिकार चौंकानेवाला लग सकता है। पदों में पूर्वी हिन्दी, व्रजभाषा, ठेठ राजस्थानी के साथ ही पंजाबी, गुजराती ही नही, सस्कृत और कहीं-कही अरबी-फ़ारसी की शव्दावली का प्रयोग देखते ही बनता है। विशेषता यह भी है कि ऐसी शब्दावली, छन्द-प्रवाह में कहीं बाधा नहीं डालती और न पाठक को अर्थ-ग्रहण में कोई असुविधा होती है। प्राय. सभी पदों में, अलग-अलग स्थानीय भाषा-रंगो के साथ ही जन-प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियो-सूक्तियो को यथास्थान ऐसा जड़ दिया गया है कि वे छन्द का अंग बनकर, पाठक-श्रोता पर प्रभाव डालते हैं। प्रत्येक पद स्वयं मे एक मुक्तक है, जिसका पद-क्रम मे अपना महत्त्व है।

पदों के प्रतिपाद्य पर विचार करते हुए लगता है कि पद-रचना का मुख्य उद्देश्य, रचनाकार द्वारा भक्ति की अनन्यता के साथ ही, लोक-बोध का उत्कर्ष कराना भी रहा था। पदो में चाहे ज्ञान-विरह की सफल अभिव्यक्ति हो अथवा भावोद्‌गारों का मार्मिक प्रकाशन, सभी मे सुन्दर-पद-रचना, हिन्दी-साहित्य के उत्तर मध्यकाल के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। सुन्दर के ये पद सत्संग-गोष्ठियों में सामूहिक भक्ति-चेतना के प्रसार मे उपयोगी रहे हैं। भक्ति-पद्धति में जहाँ अष्टयाम सेवा का महत्त्व है, वहीं वैराग्य-बोध, विनय-पुकार भी, जीवन-प्रसगो में मनुष्य को सावधान रहने की चेतावनी अथवा अपने इष्ट-प्रभु के प्रति उत्साह भरे उपालम्भो में, भक्त-हृदय की निष्ठा सर्वत्र दिखाई देती है। पद-रचना में जब अन्तर्कथाओ के द्वारा कथा-प्रसगों को समाहित किया जाता है, तब पद की अर्थवत्ता और बढ़ जाती है। गीति-तत्त्वों के रहने से भी पद की प्रभाव-क्षमता बढ़ती है। धार्मिक उत्सव-प्रसंगों मे अब भी ऐसे पद खूब गाये जाते है। किन्तु, निर्गुण-पद रचना के सम्बन्ध में यह लोक-प्रचलित मान्यता दुहराई जाती रही है कि—'सांझ की राग सकारे गावै। सो साधू मोरे मन भावै।' इसका तात्पर्य यही है कि रागबद्ध पद-गायन, समय-सीमा में उतना बँधकर नहीं चल पाता। वास्तव में संगीत-विद्या, हाथ-कान एवं मुख-वाणी-स्वर के साथ ही चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने का एक साधन रही है। लगता यह है कि रचनाकार सुन्दरदास ने, राग-पद्धतियों को छन्द-शास्त्र के साथ ही, गायक साधु-मण्डलियों से भी बहुत कुछ अर्जित किया है। उदाहरण के लिए, ऐराक राग, जो फ़ारस से आया माना जाता है, इसका अभ्यास सुन्दरदास ने पंजाब आदि देश के पश्चिमी क्षेत्रों में सूफी फ़क़ीरों के बीच सत्संग-भ्रमण करते हुए ही, अभ्यास किया होगा। इसी प्रकार जैजैवन्ती एवं संकरा रागों को भी अपनाया गया है। वैसे, संगीतशास्त्र में भैरव राग ही एकमात्र राग माना जाता है। शेष सब रागिनियाँ मानी जाती हैं, जो रागों की पुत्र-वधुएँ अथवा पुत्रियाँ मानी जाती हैं। सुन्दर-पदों में रागो के साथ-साथ रागिनियो का भी उल्लेख है। उदाहरण के लिए, राग कल्याण के साथ ही इमन एवं श्याम रागों का उल्लेख, सुन्दरदास की भावाभिव्यक्ति पर बहुकोणीय

पड़नेवाले प्रभाव को ही रेखांकित करता है। पर, सभी पदो का प्रतिपाद्य, शब्द अथवा नाद-ब्रह्म को महत्त्व देनेवाली यह निर्गुण-काव्यधारा ही है। कहा भी है–*रागोदयोऽच्युतोजयति* अर्थात् ब्रह्म में राग, एक लय की तरह उसी प्रकार विद्यमान है, जैसे सन्त-हृदयों मे अच्युत का जय-उल्लास विद्यमान रहता है। सुन्दरदास की विरह विह्वल चेतना में, राग सारंग मे रचित यह पद, अनेक संवेदनाओं से भरा हुआ अनुभव किया जा सकता है–

मेरौ पिय परदेस लुभानौ री।
जानत हौं अजहूं नहि आये, काहू सौ उरझानौ री ॥टेक ॥
×　　　　×　　　　×
भई उदास फिरत हौं व्याकुल छूटौ ठौर ठिकानौ री।
सुन्दर बिरहनि कौ दुख दीरघ, जो जानैं सो जानौ री ॥

42. **गूढ़ार्थक रचना :** इस उपशीर्षक के अन्तर्गत सुन्दरवास की वे लघु रचनाएँ हैं, जो निगूढ़ता को आधार बनाकर रची गई हैं। वास्तव में ये सभी रचनाएँ रीतिकालीन पाण्डित्य-प्रदर्शन एवं बुद्धि-विकास करानेवाली प्रवृत्ति की रचनाएँ हैं। इनमें रचनाकार की विदग्धता एवं रचना-कौशल स्वयं मुखर है। ऐसी रचनाएँ अभिव्यक्त का ऋजु-मार्ग न अपनाकर, निगूढता भरे वक्र-मार्ग का अनुसरण करती रही हैं। ऐसी कुल बारह रचनाएँ हैं, जिन्हें गूढ़ार्थक काव्यरूप का कहा जा सकता है। क्रमशः ये हैं–1. चौबोला, 2. गूढ़ार्थ, 3. आद्याक्षरी, 4. आदि-अन्त अक्षर भेद, 5. मध्याक्षरी, 6. अन्तर्लापिका, 7. बहिर्लापिका, 8. निमातछन्द, 9. दीर्घाक्षरी, 10. सिंहावलोकनी, 11. प्रतिलोम-अनुलोम और 12. ज्ञान प्रश्नोत्तर। चौबोला काव्यरूप मे कुल 17 दोहे हैं, जिनमें श्लेष के बल पर एक अर्थ प्रत्यक्ष भाषित रहता है और दूसरा अर्थ सन्धि-विग्रह से उद्घाटित होता है। प्रत्येक दोहे में चार नाम-संज्ञाएँ रहती हैं। इसीलिए इसे चौबोला नाम दिया गया है। गूढ़ार्थ विधा भी, चौबोला जैसी ही गूढ़ार्थक रचना है, जिसमें 22 दोहों का संग्रह है। इसमे एक शब्द में दो या दो से अधिक अर्थ निहित रहते हैं। आद्याक्षरी में कवि कौशल प्रमुख रहता है। यह काव्यरूप अन्तर्लापिका शैली का ही एक भेद है, जो *चित्रकाव्य* के अन्तर्गत आता है। इस लघु रचना में कुल 8 दोहे हैं। प्रत्येक दोहे में प्रथमाक्षर को लेकर एक नया दोहा रचा गया है। आदि-अन्त अक्षर *भेद* रचना मे भी कवि कौशल ही प्रधान है। इसमें कुल 16 दोहे हैं। प्रत्येक दोहे का प्रथम अक्षर एवं अन्तिम अक्षर एक ही होता है। इसमें प्रत्येक चरण का प्रथम-प्रथम अक्षर लेकर, संयुक्त रूप में पुनः एक छन्द बनाया जा सकता है, जिसका अर्थ भी नया होता है। अक्षरों की पहचान के लिए छपाई में अक्षरों के आकारों को बदलकर लिखा या छापा जाता है। मध्याक्षरी मे प्रश्नोत्तर विधान है। अर्थ, छन्द के बाहर से निकलने के कारण, इसे बहिर्लापिका शैली का एक भेद माना जाता है। प्रश्न का उत्तर छन्द-विधान के बीच से ही निकलता है। इसीलिए इसे भी

अन्तर्लापिका शैली का भेद मानना चाहिए। छन्द के मध्य से अक्षर छोड़ने और चुनने के कारण ही यह मध्याक्षरी विधा कही गई है। सुन्दर कृत दो छप्पय छन्द एव एक चौपाई छन्द है, जो मध्याक्षरी शैली में रचे गए है। अन्तर्लापिका उपशीर्षक मे तीन छप्पय छन्द संकलित हैं, जिनमें छन्द के भीतर से ही श्लेष, काव्यरूढि अथवा अन्तर्कथा को समझकर अभिधेय अर्थ को उद्घाटित किया जाता है। बहिर्लापिका उपशीर्पक के अन्तर्गत एक छप्पय छन्द संकलित है, जिसमें अर्थ, छन्द-पाठ के भीतर से ही निकलता है। उदाहरण के लिए—नमोनाथ सब सुख कर, में रकार को प्रत्येक अक्षर के साथ रखकर, जैसे नर, मोर, नार, थर, सर, बर, सुर, खर और कर रूपो मे, नए शब्दो का विधान उद्घाटित होता है।

निमात छन्द उपशीर्षक मे एक छन्द सकलित है, जो *सवैया ग्रन्थ* में चाणक कौ अंग में भी संकलित है। इस छन्द में प्रयुक्त शब्दों की विशेषता यह है कि इनमे कोई भी शब्द, मात्रावाला नहीं है, निमात का अर्थ—मात्रा रहित है। दीर्घाक्षरी उपशीर्षक का भी एक छन्द संकलित है। यह भी सवैया गन्थ के काल चितावनी कौ अग मे, 25वें छन्द क्रम मे संकलित है। इस छन्द का प्रत्येक वर्ण-अक्षर गुरु [= दीर्घ] मात्रिक है। रचना-कौशल के साथ ही इसमें सन्त-विचार का निर्वाह द्रष्टव्य है। सिहावलोकनी काव्यरूप में, सिंह की तरह चतुर्दिश दृष्टि घुमाकर देखने की अदा, शब्दार्थ-योजना का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इस उपशीर्षक में भी एक छप्पय छन्द है। इसकी चार पक्तियों में कई प्रश्न दिए गए हैं। ये प्रश्न ही छन्द के पूरे प्रतिपाद्य का सिंहावलोकन करते हैं। प्रतिलोम-अनुलोम, इस उपशीर्षक से एक छप्पय छन्द है। इस रचना का उद्देश्य, प्रतिलोम एवं अनुलोम क्रम मे, प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करना है। प्रतिलोम क्रम मे बिन्दु से सिन्धु तक का विस्तार अर्थात् अन्दर से समूचे बाहर तक को, वर्ण्य-विषय बनाया जाता है। अनुलोम क्रम मे समूची व्याप्ति [= विस्तार, सृष्टि] को अर्थात् बाहर से अन्दर तक, एक मूल बिन्दु में समाहित करके प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान-प्रश्नोत्तर में चार छप्पय छन्द संकलित हैं। दो छन्दो में प्रश्न शैली का अनुसरण है और दो में उत्तर दिए गए हैं। प्रश्न शैली अधिक लोक-ग्राह्य बनी रही है। इसमें रचनाकार, जिज्ञासु की अपेक्षाओं के अनुरूप, अपने मन्तव्य को, सहज ग्राह्य बनाते हुए प्रस्तुत करता है।

43. चित्रकाव्य : काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे उल्लिखित काव्य-रचना के अनेक प्रकारो में एक काव्यरूप *चित्रकाव्य* भी है। यद्यपि, इस काव्य विधा को अधम काव्य रचना के अन्तर्गत गिना गया है। चित्रकाव्य के दो भेद बताए गए हैं—1. शब्द चित्र, 2. अर्थ चित्र। शब्द-चित्र में शब्दालंकार प्रधान रहता है और अर्थचित्र में अर्थालकार। और स्पष्टता से कहा जा सकता है कि जहॉ वर्णो के संयोजन से चित्र-आकृति बनती है, वह रचना चित्रकाव्य के अन्तर्गत आती है। ऐसी रचना में रचनाकार का बुद्धि-श्रम-कौशल, स्वय मुखर रहता है। बुद्धि-कौशल को वर्ण-विन्यास, पद-संयोजन

और छन्द-विधान में देखा जाता है। शब्द-सौष्ठव अथवा अर्थ-सौन्दर्य पर, रचनाकार का प्रायः ध्यान नहीं रहता। चित्रात्मकता के कारण ही इसे चित्रालकार की संज्ञा भी दी जाती है। इस रचना की विदग्धता, रीतिकाल के प्रायः सभी रचनाकारों में देखी जा सकती है। रीति-प्रवृत्तियों के सम्पोषण के लिए ही सन्त सुन्दरदास ने इस काव्य विधा में भी रचना की है।

यद्यपि चित्रकाव्य सम्बन्धी छन्दों मे भी, ज्ञान-वैराग्य अथवा भक्ति-नीति की मूल-चेतना भली प्रकार से निहित बनी रही है। किन्तु सुन्दर कृत चित्रकाव्य के अन्तर्गत गिने जानेवाले जो 26 छन्द हैं, वे ग्यारह विशेष काव्यबन्धों के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इन छब्बीस छन्दों मे से कुछ तो मूल-वाणी से ही चुने गए हैं। कुल सात छन्द ऐसे हैं, जो मूलतः चित्रकाव्य के लिए अलग से रचे गए हैं। इनकी विशेषता यह है कि इन 7 छन्दों के साथ-साथ रचनाकार ने, चित्रकाव्य में आनेवाले चित्रों का भी रेखांकन किया है। ये चित्र-बन्ध इस प्रकार है—1. छत्र बन्ध, 2. कमल बन्ध, 3. चौकीबन्ध, 4. गौमूत्रिका बन्ध, 5. चौपड़बन्ध, 6. ज़ीनपोस बन्ध, 7. वृक्षबन्ध, 8. नागबन्ध, 9.हारबन्ध, 10. कंकण बन्ध और 11. निगड़बन्ध। इनमें एक-दो छन्दों के लिए तो, दो-दो चित्र दिए गए हैं। कुल चौदह चित्रों सहित सभी बन्धों का विवेचन *सुन्दर ग्रन्थावली : भाग दो* में, यथास्थान देखा जा सकता है। क्रमशः छत्रबन्ध में एक छप्पय छन्द, कमलबन्ध में 2 छप्पय छन्द, चौकीबन्ध में चामर और चौपइया छन्द, गौमूत्रिका बन्ध मे एक छन्द, चौपड़ बन्ध में एक चौपाई छन्द, ज़ीनपोस बन्ध में 2 उल्लाला छन्द, वृक्षबन्ध में एक मनहर छन्द, जो *मन कौ अंग* उपशीर्षक में 23वें छन्द-क्रम मे देखा जा सकता है। वृक्षबन्ध के दूसरे चित्र मे 9 दोहा छन्द हैं। नागबन्ध में एक मनहर छन्द है, जो सवैया ग्रन्थ के *उपदेश चितावनी कौ अंग* के 29 वें छन्द-क्रम में संकलित है। हार बन्ध में एक मनहर छन्द है। यह भी उक्त अंक के 30वें छन्द-क्रम में है। ककण-बन्ध में 2 डुमिला छन्द हैं। ये भी उक्त अंग के 32 वें एवं 33वें छन्द-क्रम में हैं। निगड-बन्ध में 2 छप्पय छन्द हैं। सभी छन्दों में प्रायः श्लेष का कौशल देखा जा सकता है। सभी छन्द रीतिकालीन प्रवृत्ति की विवशता का परिणाम कहे जा सकते हैं। किन्तु, *चित्रकाव्य* के उक्त सभी छन्दों में सन्त-विचार की भूमिका, सर्वत्र देखी जा सकती है।

44. कविता लक्षण : प्रस्तुत उपशीर्षक में सन्त कवि ने तत्कालीन साहित्य-जगत् में प्रमुखता से प्रचलित काव्य-लक्षण, काव्यरूढ़ि, कवि-समय और काव्य-प्रयोजनो को रेखांकित किया है। इसी के अन्तर्गत काव्य-सृजन से सम्बन्धित इन आठ उपांगों के लक्षण पद्यबद्ध करके प्रस्तुत हुए हैं। ये हैं—1. गण विचार, 2. गणदेवता, 3. संख्या वर्णन, 4. नवनिधि वर्णन, 5 अष्टसिद्धि वर्णन, 6. सप्तवार वर्णन, 7. बारहमास वर्णन और 8. बारह राशि वर्णन। अपने युग के कविता सम्बन्धी मुहावरे की अवधारणा को भी छप्पय छन्दों में शब्द-बद्ध किया गया है। वैसे,

अवधारणाओं की पुष्टि मे प्रमुखत· सस्कृत काव्य-लक्षणो को ही आधार बनाया गया है। भाषा-काव्यों की कुछ अपनी विशेषताएँ भी है। रीतिकालीन प्रवृत्तियों के दवाव मे आकर ही शायद सुन्दरदास जैसे सन्त कवि, कविता के अभिव्यक्ति पक्ष की, कबीर-दादू की तरह, उपेक्षा नही कर सके हैं। तभी तो उन्होंने नखशिख शुद्ध कवित्त की पक्षधरता की है। यही नहीं, उन्होंने अगहीन अथवा अर्थहीन कविता को अन्धा एवं पंगु की संज्ञा दी है। सन्त होने के नाते यद्यपि उन्होने कविता का प्राण [= आत्मा] तो *हरिजस* एवं *हरिरस* को ही माना है। पर, उनका काव्य-विश्वास, कविता के बहिरंग पक्ष की उपेक्षा नही कर सका है। इसीलिए काव्य-लक्षण विचार करते हुए वे मात्रा, छन्द-तुक, गण, गणदेवता अथवा कविता में प्रयुक्त रूढ संख्याओ पर भी अपने शास्त्रीय ज्ञान की छाप छोड़ने में समर्थ बने रहे हैं।

45. ज्ञान-विचार : छप्पय एकादशी : जैसा कि उपशीर्षक से व्यंजित है, इस रचना मे कुल ग्यारह छप्पय-छन्द संकलित हैं, जिनका प्रतिपाद्य सन्त-ज्ञान-विचार को छन्दबद्ध करना है। इनमें विशेषतः मन का स्वभाव, उसकी शक्ति-सामर्थ्य तथा उसकी दुर्निवार वृत्ति को गयंद [= हाथी] से तुलना करते हुए, छन्द में सागरूपक के सहारे, अपनी बात कही गई है। उसी सन्दर्भ मे मन को गयंद और ज्ञान को अंकुश कहा गया है। यहाँ योग-सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए भी, आत्मा सम्बन्धी विचार-अनुभव को, छन्दों का मुख्य विषय बनाया है। इसीलिए निष्कर्ष में उन्होंने यही कहा है—'कहि सुन्दर चेतन आतमा यह निश्चय करि आनिये।' इस सम्बन्ध में एक रूपक प्रस्तुत करते हुए सुन्दरदास ने अध्यात्म ज्ञान को बहुत ही सहज-सरल ढंग से पाठक-श्रोताओ के सामने रखा है। उनका कहना है यदि परब्रह्म [= परमात्मा], बादशाह [= सम्राट] है, तो ज्ञान उसका शहज़ादा [= राजकुमार, युवराज] है। शेष सभी भक्ति के अंग-उपांग उसी के अधीन हैं। छन्द इस प्रकार हैं—

परब्रह्म पतिशाह ज्ञान कहिये सहजादौ।
सांख्य योग अरु भक्ति बडे उमराव अनादौ॥
और क्रिया सब रैति जज्ञ जप तप ब्रत जेते।
तीर्थ अटन स्नान दान यम नियम सु केते॥
ज्यौं ब्याह समै अपने सुतहिं सहजादौ करि गाइयौ।
कहि सुन्दर सहजादौ उहै पातिशाह उर लाइयौ॥

पातिशाही के उस युग में सुन्दरदास द्वारा निरूपित यह आध्यात्मिक रूपक, तत्कालीन आध्यात्मिक विचारो के साथ ही, सामाजिक-ऐतिहासिक सम्भावनाओं की भी व्यंजना कराता है।

46. देशाटन के सवैये : प्रस्तुत रचना-शीर्षक के अन्तर्गत दस सवैया [= इन्दव] छन्द सकलित है। इन छन्दो मे सुन्दरदास द्वारा देश-प्रदेश में किए गए देशाटन

के अनुभव सँजोए गए है। तिथि-घटना सम्बन्धी तथ्यो के अभाव मे भी ये यात्रा-सस्मरण, हिन्दी मे यात्रा-साहित्य सम्बन्धी प्रथम उदाहरण कहे जा सकते है। इन छन्दो मे यायावरी वृत्ति, यात्री की यात्रा सम्बन्धी दृष्टि तथा यात्रा मे अच्छा-बुरा लगनेवाला दृष्टिकोण, भली प्रकार देखा जा सकता है। इन छन्दों को पढ़ने से तत्कालीन भूगोल सम्बन्धी अवधारणा एव समाज-संस्कृति सम्बन्धी सन्त-दृष्टि की कुछ प्रामाणिक सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। छन्दो से ही ज्ञात होता है कि सुन्दरदास अपने जीवन में दो बार लाहौर गए थे। उन्होंने, वहाँ की जलवायु, उपज तथा वहाँ के लोगों के रहन-सहन एवं शील-स्वभाव का अच्छा वर्णन किया है। यही नहीं, देश के कई क्षेत्रों मे मालवा, पूर्वाचल, हिमालय क्षेत्र और विशेषत· राजस्थान के निवासियों के खान-पान, रीति-रिवाज़ एव रूढ़ियों में फँसे रहने के कारण, उनकी आलसी प्रवृत्तियो तक का सही आकलन किया है। उत्तराखण्ड सम्बन्धी यात्रा-छन्द से लगता है कि हिमालय-क्षेत्र की निर्मलता उन्हें बहुत आकर्षित करती रही है। राजस्थान के फतहपुर क्षेत्र में उनके जीवन का अधिकांश समय व्यतीत हुआ है। पर, वे वहाँ के लोगो की सफाई के प्रति उपेक्षा-वृत्ति के कारण, ख़ासे खिन्न दिखाई देते हैं। विशेषत· घर मे स्त्रियों के अस्वच्छ रहने पर। तभी तो उन्होंने कहा है—फूहड़ नारि फतेपुर माही। दूसरी ओर मालवा-क्षेत्र की खुशहाली से वे बहुत प्रसन्न दिखाई दिए है।

47. बाईजी की भेंट के सवैये : प्रस्तुत उपशीर्षक के अन्तर्गत आठ सवैया छन्दो का संकलन है। इनमे छः मनहर छन्द है और दो इन्दव सवैया। समूची सुन्दर-वाणी में, अपने गुरु दादूजी को छोडकर, सुन्दरदास ने किसी अन्य के प्रति श्रद्धा-प्रशसा अर्पित नही की। यहाँ तक कि दादूजी के दिवंगत होने पर उनके ही आसन पर विराजमान उनके पौष्य पुत्र-शिष्य गरीबदास के प्रति भी नहीं। माना जाता है कि सुन्दरदास की बाल्यावस्था मे, एक बार गरीबदास ने उपहास-वृत्ति से उन्हें कुछ हेटा कह दिया था। तब बाल-मन पर जो हीनता का भाव अंकित हुआ था, उसे सुन्दरदास जीवन-पर्यन्त नहीं भुला सके। किन्तु, जीवन के उत्तरार्द्ध में गरीबदास के देहावसान के बाद, दादूजी द्वारा पालित पोषित पुत्रियाँ [= दुहिताएँ] दादू-गद्दी पर विराजमान हुई, तब उन दोनों बहनो ने, किसी उत्सव विशेष पर, बडे सम्मान से सुन्दरदास को नरैणा, दादू-द्वारे मे बुलाया और वहाँ उनकी बहुत आव-भगति की थी। उसी कालावधि में सन्त सुन्दरदास ने *बाईजी के भेंट के सवैये*, उपशीर्षक से इन छन्दों की रचना की है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से ये छन्द सुन्दरदास के कवि-हृदय के अच्छे नमूने हैं। इनमें गुरु-पुत्री होने के रूप में, बाईजी की प्रशंसात्मक स्वीकृति देखने को मिलती है। इनमें सुन्दरदास भाव-विभोर होकर, बाईजी से अपने स्थान पर लौट जाने के लिए विदा माँगते हुए, उनके द्वारा की गई आव-भगति, उनके स्वभाव एवं उनके द्वारा दिए गए आतिथ्य भाव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इन

छन्दों मे बाईजी के प्रति स्नेह-वात्सल्य भावो की सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। अपनी भाव-भूमिका के कारण ही ये रचनाएँ सुन्दर के जीवन-विचार के प्रति नई रोशनी डालती है। क्योंकि, सुन्दर-वाणी मे उनके मित्र कवि बनारसीदास जैन के अतिरिक्त, विनम्रता भरी ऐसी भाव-विभोरता अन्यत्र देखने को नही मिलती। गुरु-पद अधिकारी होने के कारण वाईजी से सीख लेने या देने की बात भी विसगत नहीं लगती। वे कहते है—

जग मे प्रसिद्ध दोऊ दादूजी की नन्दनी।

एवं

बार बार कर जोरि बीनती करत राजि,
सुन्दर कौं हँसि करि सीष दीजै बाईजी।

48. संस्कृत श्लोक : सुन्दर-वाणी में संकलित इस अन्तिम उपशीर्षक में, सुन्दर कृत छ· संस्कृत-भाषा-छन्दो का संकलन है। इनमें सस्कृत-भाषा मे रचित दो पद भी हैं। सस्कृत-भाषा में पद-रचना करने को, सुन्दरदास की क्षमता, रुचि और मौलिक प्रस्तुति के रूप में याद किया जा सकता है। उनका संस्कृत भाषा-ज्ञान, इन छन्दों की रचना में देखा जा सकता है। अन्य संस्कृत-छन्दों में उनका पिंगलज्ञान, उनकी शब्द-योजना की दक्षता, पाठक स्वत· अनुभव कर सकते है। उक्त छन्दो में दो शार्दूलविक्रीड़ित, तीन अनुष्टुप तथा एक भुजंगप्रयात छन्द है। इन छन्दों में सुन्दरदास का काव्य-शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही, दार्शनिक ज्ञान भी स्वय मुखर है। भाषा-कवि द्वारा, सस्कृत-भाषा में ऐसी अभिव्यक्ति, उनकी निष्ठा और अभिरुचि को साकार रूप देती है। ऐसी भाषाभिव्यक्ति, उनके भाषाधिकार का भी प्रमाण है। अन्त में सन्त-स्वभाव की चेतना प्रस्तुत देववाणी-श्लोकों में, कवि की विनम्रता, फलागम की व्यंजना के साथ, देखी जा सकती है। प्रस्तुत भुजंगप्रयात छन्द की भावाभिव्यक्ति देखिए—

माधुर्योत्तर सुन्दरा मम गिरां गोविन्द सम्बन्धिनीम्।
यो नित्यं श्रवणं करोति सततं स मानवो मोदते॥
न्यूनाधिक्य विलोक्य पण्डितजनो दोषं च दूरी कुरु।
मे चापल्य सुबाल बुद्धि कथितं जानाति नारायण· ॥

तीन

सुन्दर-वाणी : काव्य का विधायक पक्ष

भारतीय साधक एवं सन्त कवियो की रचना का लक्ष्य कविता करना नहीं रहा। वे आत्मानुभूति को शब्दो में बॉधकर, लोक-बोध को जगाने का प्रयत्न अवश्य करते रहे हैं। इस सम्बन्ध मे डॉ. बडथ्वाल का यह कथन सही लगता है कि निर्गुणियों के यहॉ काव्य के लिए काव्य, का कोई मूल्य नहीं था। उनके लिए कविता एक उद्देश्य अथवा साधन मात्र है। वे सत्य के प्रचारक थे और कविता को उन्होंने सत्य के प्रचार का एक प्रभावपूर्ण साधन माना था। वे केवल थोड़े-से शिक्षितों के लिए ही नहीं कहते थे, उनका लक्ष्य सर्वसाधारण के हृदय पर अधिकार करना था, जो जनता के प्रधान अंग थे। जैसा कि सन्त कवियों के अग्रणी कबीर ने कहा है कि उनकी रचना मात्र *गीत* नहीं है, उस गीत-रचना में निज-विचार अनुस्यूत है। उनके लिए वही आत्मा की शक्ति है और वही पुष्टि भी। देखिए—

तुम जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार॥ —*ग्र.*, पद 5

अर्थात् अनुभव में आए सत्य-ज्ञान की अभिव्यक्ति एवं *निज ब्रह्म* के स्वरूप का गुण गान करने के लिए, अन्य सन्तो के समान ही सुन्दरदास ने कविता को अपना माध्यम बनाया है। उस काव्य में अर्थरूप हरिजस निरन्तर विद्यमान रहता है। कविता का लक्षण बताते हुए सुन्दरदास ने लिखा है—

औढेर कांण सो तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
कहि सुन्दर हरिजस जीव है, हरिजस बिन मृत कहि तथा॥
—*सु ग्रं.* 2, कविता-लक्षण, छन्द

सुन्दर-वाणी का केन्द्रीय भाव-बोध : रचना में निहित *हरिजस* का लक्ष्य, सामाजिक के मन में दुष्प्रवृत्तियों के शमन एवं सद्‌वृत्तियों के उत्कर्ष का संवर्धन करता रहा है। काव्य में वर्णित ऐसी सदाशयता, मनुष्य के लिए ही नहीं, प्राणी मात्र तक को अपनी सात्विक वृत्तियों में आप्लावित करती-रहती है। सन्तों की ऐसी प्रेमानुभूति को शास्त्रीय रसो की सीमाओं में बॉध पाना अथवा बाँधकर व्याख्यायित करना कठिन ही नहीं, उचित भी नहीं है। कहने को तो कहा गया है कि *सुन्दर-वाणी*

का केन्द्रिय भाव 'शान्तरस' अथवा ज्ञान-भक्ति-विचार है, जिसे सन्त-साहित्य की समीक्षा मे हरियश अथवा आनन्द भाव कह दिया जाता है। अपनी संस्कृत-अभिव्यक्ति में, सुन्दरदास ने अपनी वाणी को गोविन्द सम्बन्धिनीम् कहा है, जिसमें ब्रह्मस्वरूप सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभाव निरन्तर विराजमान है। देखिए—

> माधुर्योत्तर सुन्दरां मम गिरां गोविन्द सम्बन्धिनीम्।
> यो नित्यं श्रवणं करोति सतत स मानवो मोदते ॥

अथवा—

> एव ब्रह्म बिराजते च सतत आनन्द सच्चिन्मयम्।

एकात्म भावमयी साधक-चेतना की रसानुभूति में जिस अद्वैत भाव की अनुभूति होती है, वही सन्तो का काव्यरस है, आनन्दभाव है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे ही रस भी कहा है और रस का अन्वेषी भी। वह अद्वैत है। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के पीछे चुपचाप स्थित, दोनों को मंगलमय कर्म की प्रेरणा देनेवाला अद्वैत तत्त्व ही रस है। [दे. *मध्यकालीन बोध का स्वरूप*, पृ. 104] ऐसी अनुभूति, सदा से ही कण्ठ में आने के लिए आकुल बनी रही है। लेकिन, सुन्दरदास इस अनुभूति को पुनः भीतर लौटाने के पक्ष में देखे जाते है। लौटाने पर भी, यह अनुभूति लौटती नहीं और प्रवेग के साथ छलक पड़ती है। पर, अद्भुत होने के कारण यह अनुभूति अकथनीय, शब्दातीत अवश्य बनी रहती है। फिर भी, शब्दो में बँधती रही है, गूँगे के गुड के समान अनिर्वचनीय बनी रही है। इस परिस्थिति को द्योतित करनेवाला सुन्दर का यह सवैया छन्द उदाहरणीय बना रहा है—

> होत बिनोद जु तौ अभिअंतर सो सुख आपु मै आपु ही पइये।
> बाहिर कौ, उमग्यौ पुनि आवत कण्ठ ते सुन्दर फेरि पठइये ॥
> स्वाद निवेरें निवेर्यौ न जात मनौं गुर गूंगेहि ज्यों नित षइये।
> क्या कहिये कहतें न बनैं कछु जौ कहिये कहतें ही लजइये ॥
>
> —*सुन्दर सवैया.*, आत्मानुभव. 28/3

यह अनुभव, शब्दों मे चाहे पूरी तरह से न बँध पाये, पर चेतना-अनुभव मे यह पूरी तरह से समाया हुआ लगता है। तभी तो सुन्दर कहते हैं कि शुद्ध रवेदार घी चाखते हुए जो अनुभूति होती है, वह मुख की भाव-भंगिमा से भली प्रकार जानी जा सकती है। देखिए—

> जाकौं अनुभव होइ सु जाणैं, पायौ परमानन्द निवास।
> घी सौ घोंटि रह्यौ घट भीतरि, सुख सौं सोवै सुन्दरदास ॥
> कस्तूरी कर्पूर छिपावै, कैसे छानी रहै सुबास।
> घी सौ घौंटि रह्यौ घट भीतरि, सुख सौं सोवै सुन्दरदास ॥
>
> —*सुं.ग्रं. 1*, सुख समाधि. 4/24-25

सुन्दरदास ने वाणी-काव्य के तीन प्रभावों को रेखाकित किया है। ये हैं—आभूषणवसनों से सुसज्जित रूपवती वाणी, जिसमें अधिक [= हरि] रूप विद्यमान रहता है। यह उत्तम कोटि की वाणी-वीणा है। जो मूल्य [= हरि] रहित वाणी है, वह उस शरीर के समान बताई गई है, जो मलिन और फटे-पुराने कपड़े पहनने के कारण, तेजहीन दिखाई देती है। तीसरे प्रकार की वाणी वह है, जो वासना वर्धक एव विषयी विकारो को उभारनेवाली शृंगारी वाणी है, जो इन्द्रिय-लोलुप लोगो को अच्छी लगती है। सुन्दरदास ने *वचन विवेक रचना* में इसी विचार को, प्रस्तुत छन्द में रेखाकित किया है—

एक बाणी रूपवत भूषन बसन अंग,
अधिक बिराजमान कहियत ऐसी है।
एक बांणी फाटे टूटे अंबर उढ़ाये आंनि,
ताहू मांहि बिपरीति सुनियत तैसी है॥
एक बांणी मृतकहि बहुत सिंगार किये,
लोकनि कौं नीकी लगै संतनि कौं भै सी है।
सुन्दर कहत बांणी त्रिबिध जगत मांहि,
जानै कोऊ, चतुर प्रबीन जाकै जैसी है॥

—*सुं. सवैया.*, 14/2

सुन्दरदास, काव्य-रचना में सन्त-काव्यादर्श को प्रमुख मानते रहे हैं। पर, काव्यादर्श का ध्यान रखते हुए भी उन्होंने रचना को अर्थबोध प्रधान माना है। इसीलिए काव्य-रचना करते समय, कवि-बोध को अखण्डित बनाए रखना, कवि-कर्म की प्रथम आवश्यकता बताई गई है। इस सम्बन्ध में उनकी यह राय पठनीय है—

बोलिये तौ तब जब बोलिवे की सुधि होइ,
न तो मुख मौन करि चुप होइ रहिये।
जोरियेऊ तब जब जोरिबोऊ जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिये॥

—*सु सवैया.*, 14/4

प्रतिपाद्य रस-बोध और समाज-सन्दर्भ—सुन्दर-वाणी प्रधानतः शान्त रस प्रतिपादक वाणी मानी जाती है। लेकिन, इस शान्ति प्रतिपादक वाणी के तत्कालीन समाज-सन्दर्भ एवं भविष्य के लिए वाणी-सन्देश को भी समझना आवश्यक है। वाणी, अपने सीमित उद्देश्यों के लिए नहीं रची जाती। उसमें पूरे जीवन का स्वर प्रधान रहता है। साथ ही लोक-जीवन में नैतिक मूल्यों (या मरजाद) की प्रतिष्ठा करना भी सन्त-वाणी का लक्ष्य रहा है। इसी अर्थ मे वाणी-काव्य, जीवन-काव्य माना जाता रहा है। काव्य का काव्यत्व इसी अर्थ में है कि वाणी, जीवन को व्यक्त करे। जो भाव, जीवन में समग्रता

से अनुभूत अथवा अनस्यूत न हो, वह कविता, कविता नहीं हो सकती। सन्त कवि सुन्दरदास की आत्मानुभूति, जिस शान्त रस में परिव्याप्त देखी जाती है, वह उनके जीवन की अनुभूति का ही परिणाम है। सामान्य काव्य-रचना और वाणी-काव्य में मूलभूत अन्तर यही है कि सन्त-काव्य मनोविकारों के शमन का काव्य है। वह ऐसे समरस चित्त की उपज होता है, जो समग्र जीवन के प्रति उत्तरदायी होता है।

हिन्दी-साहित्य मे सुन्दर-वाणी-रचना का समय भक्तिकाल का उत्तरार्द्ध अर्थात् उत्तर मध्यकाल रहा है, जिसे काव्यशास्त्रीय भाषा मे रीतिकाल अथवा शृंगारकाल कहा जाता रहा है। अत· उस समय के युग-बोध एवं समाज-बोध के सन्दर्भ में भी रचनाकार की रचना-धर्मिता के मर्म को रेखांकित करना आवश्यक है। परम्परित काव्यशास्त्रीय मूल्यों के बीच में रखकर ही, रचना में जीवन से जुड़े मूल्यों की परख करते हुए, रचना की जीवनी अथवा जीवनीशक्ति उभर कर सामने आती है। सन्त सुन्दरदास, काव्यशास्त्रीय मूल्यों के जानकार ही नही, आचार्य कवि थे। साथ ही वे जीवन-पर्यत युग-बोध को समझते हुए ही, अपने रचना-धर्म में प्रवृत्त रहे हैं। वे भली प्रकार जानते थे कि रीतिकाल के दरबारी कवि, राज्याश्रय मे पलते हैं। राज-दरबारों अथवा सामन्ती शासकों की जो मानसिकता थी, उसको उन्होंने अपने कवि-जीवन में भली प्रकार समझ लिया था। अतः जान-बूझकर उन्होंने, लोक-धर्म को समझते हुए तत्कालीन शृंगारी प्रवृत्ति के विरुद्ध, अपनी रचना का स्वर बुलन्द किया था। वास्तव में सन्त कवि सुन्दरदास संस्कृतज्ञ, भारतीय काव्यशास्त्र के ज्ञाता, विविध काव्यांगों एवं काव्य-विधाओं के रचनाकार तथा काव्य-भाषा मर्मज्ञ थे। फिर भी, उनकी रचना-वाणी का वह स्वभाव नहीं है, जो रीतिकालीन कवि-आचार्यो का रहा है। उनकी वाणी सन्त-वाणी के मूल्यो पर आधारित रही है। वे मात्र कवि की तरह, कथनी-कौशल पर ज़ोर नही देते थे। अपितु करनी और रहनी की सात्विकता को वाणी का प्रयोजन मानते रहे है। इसीलिए सुन्दर-वाणी शम, अर्थात् निर्विषयी चित्त-भूमि अथवा विश्राम दशा की उपज कही जा सकती है। यह वाणी लोकधर्मी राम रस से भाव-सिंचित बनी रहकर ही अँकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुई है। ऐसी वाणी को, मात्र रस-रीति, गुण-अलंकार की काव्यशास्त्रीय कसौटी पर परखकर, कुछ सीमित निष्कर्ष देना समीचीन नहीं लगता।

भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित रसों का मूलाधार भाव अथवा मनोविकार हैं। जबकि सुन्दर-वाणी की मूल-प्रेरणा, गुरु-भाव से प्रेरित चित्त का शमभाव अथवा प्रकृत दशा है। सुन्दर की मान्यता है कि भाव-विकृत मानसिकता मे चित्त की सात्विक समता नही रहती। ऐसी मानसिकता को एक अन्य सन्त कवि ने इस प्रकार बताया है—

जब लग विषै विकार, कहां मन सूध रे।
अजा कंठ अस पान नही टुक दूध रे॥

कबहू बिसरि न जाय धनी कौ नांव रे।
हरि हाँ, एक जीव की कहा, तिरै सब गाँव रे ॥

—*हरि. वा*, ध्यानदास,

सुन्दरदास, जिस समय लिख रहे थे, साहित्य-समीक्षा मे उस समय *शृंगार रस* के रस-राजत्व का बोल-बाला था। तत्कालीन रीति-ग्रन्थों की रचना उसी ढर्रे पर चल रही थी। दरबारी-संस्कृति में सामन्ती मनोवृत्ति के पोषण के लिए ही, कवि-कलाकारो को प्रोत्साहन मिल रहा था। उसी काल मे, समान्तर रूप में सन्त-वाणी की रचना भी हो रही थी, जिसकी ओर साहित्य-समीक्षको का पूरा ध्यान नही गया। समीक्षक, मध्यकाल में रचित भक्ति-काव्य के आस्वाद की चर्चा तो करते रहे हैं, पर रीतिकाल में हुए सन्त-रचनाकारों की वाणी की उपेक्षा ही होती रही है। सच तो यह है कि कोई भी रचनाकार रसों की मेंड़ बाँधकर, जीवन-धाराओं को अपने मन-मुताबिक प्रवाहित नहीं करा सकता। इस दृष्टि से जब हम सुन्दर-वाणी की समीक्षा करते हैं, तो लगता है कि सुन्दर के अनुभव को, उस अनुभव में निहित उनके काव्य-मन को, दायरे में बाँध पाना सम्भव नहीं है। शास्त्र एवं पुस्तक के दायरे में सन्त-वाणी के प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करना इसलिए भी कठिन है कि सन्तों ने समूची सृष्टि को शास्त्र एव समस्त पृथ्वी को पुस्तक रूप में मानते हुए, अपने मन का विस्तार किया है। इस सम्बन्ध में सुन्दरदास के गुरुभाई रज्जब अली की यह साखी उदाहरणीय कही जा सकती है—

सिष्टि सास्तर है सही, बेत्वा करै बखान।
रज्जब कागद क्या पढ़ै, पिरथी पुस्तग जान ॥

सन्त सुन्दरदास का वैचारिक निष्कर्ष भी यही रहा है कि वासनाओं में जीना ही सब कुछ अथवा समूचा जीना नहीं कहा जा सकता। वासना-मुक्ति का जीवन भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी मुक्ति-चेतना में चित्त, जिस विश्राम-दशा का अनुभव करता है और उस चेतना में जैसा सामाजिक उत्साह, आचरणगत निष्ठा एवं परस्पर व्यवहार की सात्विकता का अनुभव होता है, उसमें व्यक्ति-सीमाओं को पार करके, जिस प्रकार के व्यापक जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है, उसे ही सुन्दरदास ने समग्रता का जीवन कहा है। सुन्दरदास की ऐसी वाणी को परखने के लिए उनकी काव्य-दृष्टि एवं जीवन-दृष्टि की परख आवश्यक है। वे कहते हैं कि सन्त-हृदय तो, हंस की तरह अर्थ रूप मुक्ताफल की चुनता है अथवा चुगता है। शेष प्रकार की कामवृत्तियों को, विषयी काग-कवीश्वर, हड्डियों को चबाने की तरह, पेट भरने का विषय बनाते रहते हैं—

हंस चुगै मुक्ताफल अर्थहिं, सुन्दर मानसरोवर न्हांहिं।
काक कवीश्वर बिषई जेते, ते सब दौरि करंकहि जाहिं ॥

—*सुं. सवैया* 22/30

सुन्दरदास की वाणी में निरूपित प्रेम-भाव—तत्कालीन सामन्ती-समाज के परिवेश मे कविता अथवा कविताई, आभिजात्य वर्ग की धरोहर-सी बनकर रह गई थी और उसमे भी, कविता के केन्द्रिय बिन्दु कचन की चमक एव कामिनी की अदा के चित्रण को ही दरबारी कवियो ने प्रायः अपना काव्य-विषय निर्धारित कर लिया था। जबकि, सुन्दरदास की कविता मे, कामिनी नारी का भावन, चित्त की समता को, समग्रता को बिगाड़ने वाला माना गया है। उन्होंने पराई नारि का भोग, आत्मघात की तरह वर्जित माना है। वास्तव मे सुन्दर-वाणी तो, सामाजिक की चेतना को वासना की सॅकरी गली से निकाल कर, प्रेम के राजमार्ग पर चलाना चाहती रही है। सुन्दर की मान्यता है कि हृदय मे जैसे ही प्रेम-भक्ति का उदय होने लगता है, वैसे ही सब कुछ फीका लगने लगता है और हृदय की निर्मलता के साथ ही, द्वैत-भाव अर्थात् अपने-परायेपन का विचार भी नि.शेष होने लगता है—

प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्महि और सबै कछु लागत फीकौ।
शुद्ध हृदै मति होइ सु निर्मल द्वैत प्रभाव मिटै सब जी कौ ॥

—*सुं. सवैया.*, साधु 20/1

सुन्दर के गुरु दादूदयाल ने भी यही कहा है कि मनोविकारों से मुक्ति मिलते ही, प्रेम-भक्ति के उदय के साथ ही, तर्क-विचार का उच्छेद और ज्ञान-विचार का प्रसार स्वतः होने लगता है और वैसी भाव-भूमिका मे ही हरिरस का अनुभव होता है—

प्रेम भगति जब ऊपजै, पंगुल ज्ञान विचार।
दादू हरि रस पाइये, छूटै सकल विकार ॥

रीतिकालीन सामन्ती अथवा अभिजात्य वर्ग की *कविताई* में, प्रतिक्रिया वश जिस मनोवृत्ति का अनुभव सुन्दरदास ने किया है, वह सॅकरी गली मे ले जाने वाला प्रेम-भाव था। सुन्दरदास की कविता में वैसा प्रेम-भाव नहीं हैं। जो प्रेम-भाव नारी के नख-शिख तक ही सीमित रह जाए, वह प्रेम का पूरा भाव कैसे हो सकता है? अत· यहाँ सुन्दर-वाणी का आलम्बन तलाशते हुए, पहले उनके समर्पण भाव को पहचानना होगा। जो सन्त कवि, अविनाशी गुरु पर बलिहारी जाता है, वह कामिनी के मांसल शरीर की शोभा तक कैसे सीमित रह सकता है? सुन्दर-वाणी मे तो व्यापक प्रेम का सागर हिलोरें लेता है। ऐसा प्रेम जो पूरे जीवन के प्रति प्रतिबद्ध होता है। उसी की साधना तेजस्वी साधना कहलाती है। ऐसी लक्षित साधना का निरन्तर आलम्बन, अविनाशी पुरुष का दर्शन-अनुभव ही तो है—

गुरु अविनाशी पुरुष है, घट का दादू नांव।
सुन्दर शोभा का कहूँ, नख शिख पर बलि जांव ॥ —*बावनी* 13/1

सन्तो की प्रेम-साधना मे, सुविधाजीवी होने का भाव किंचित् भी स्वीकार्य नहीं है। कबीर ने भी इसी मार्ग पर चलनेवाले के लिए, स्वय शीश काटकर, अपने पैरो तले डालने की प्रेरणा दी थी। अर्थात् अहंकार का शमन करते हुए पूर्ण समर्पण का जीवन ही भक्त का अपना जीवन होता है। भक्त को पतिव्रता-भाव से ही, अपने चारो ओर के विसंगति भरे परिवेश मे संकल्प के साथ जीना पडता है। व्यभिचरण में चित्त-वृत्ति चंचल और अस्थिर बनी रहती है। प्रेम-भक्ति मे सुन्दरदास ने शृंगारी व्यभिचरण के पक्ष की उपेक्षा की है। लोक-संग्रह की दृष्टि से नारी-मर्यादा में बधू, प्रिया, पतिव्रता, सती और माँ पक्षों को सुन्दर-वाणी में जितना सम्मान मिला है, मध्यकालीन काव्यो में अन्यत्र उतना देखने को नहीं मिलता। इसके विपरीत, कामी-व्यभिचारी स्त्री-पुरुष का सुन्दर-वाणी मे सम्मान नहीं है। स्त्री-पुरुषों की चेतना मे निष्ठा-संकल्प के साथ, आलम्बन रूप *हरि-भाव* की प्रतिष्ठा, सुन्दर-वाणी का केन्द्रिय लक्ष्य भी है और आलम्बन भी। पति रूप हरि की उपासना ही सुन्दर-वाणी का केन्द्रिय आदर्श है। जो हरि (= व्यापक सत्ता) को भुलाकर पूजा-विधान करता है, उसे धिक्कारते हुए सुन्दरदास कहते हैं—

जो हरि कौ तजि आन उपासत सो मति मंद फजीहति होई।
ज्यौं अपनै भरतारहि छाड़ि भई बिभचारिनि कामिनि कोई॥
सुन्दर ताहि न आदर मांन फिरै बिमुखी अपनी पति षोई।
बूडि मरै किनि कूप मॅझार कहा जग जीवत है सठ सोई॥

—*सुं. सवैया.*, पतिव्रत. 16/2

रसिकता का विरोध—रीतिकालीन कवियों की प्रवृत्ति, जिस *नख-शिख शृंगार* चित्रण में रमती रही है, सुन्दरदास ने सन्त-चेतना के अनुरूप उसका प्रतिरोध किया है। माना गया है कि सुन्दर की सात्विक विचारधारा, तत्कालीन समाज के बहुजन की मानसिक शक्ति और सामाजिक दायित्व के प्रति उत्तरदायी बनी रही है, तब जबकि रसिकता भरा जीवन जीना, राजन्य सस्कृति की देन अथवा धनाढ्य वर्ग की वैभव-विलास भरी मानसिकता का परिणाम बना हुआ था। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने, *सुन्दर ग्रन्थावली* की भूमिका में रीतिकालीन शृगारी प्रवृत्ति के प्रतिरोध में, शान्त रस को प्रतिष्ठित किया है—

"जिन्हे रसिकता का चसका लगा था, वे रसिकता भरी बात कहकर ही, राजा-बादशाह-रईसो को रिझाकर, हाथी, पालकी, आभूषण इज्ज़त आदि इसी शृगारी कविता से प्राप्त करते थे। केशव दास ने *रसिकप्रिया*, नखशिख वर्णन की रचनाओं में शृंगार की चर्चा भक्ति से अलग करके की है। उनके देखा-देखी अनेक कवियों ने नायिका भेद के द्वारा, नग्न शृंगार का वर्णन किया है। जिसमें मर्द, गर्द हुए, घराने

नष्ट हुए, कामी पुरुषो की भरमार हुई, धीर-वीर हिजडे हो गए, भारत कायरता से गारत हुआ।"

सन्तकवि सुन्दरदास ने दो छप्पय छन्दो में समूचे सन्त-साहित्य की मूल चेतना को, रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्ति के प्रतिरोध मे, अपना विचार-पक्ष प्रस्तुत किया है। तव राजदरबारो मे पल्लवित हो रही शृंगारी मानसिकता के साथ उच्च वर्ग मे विलासी प्रवृत्ति बेरोक-टोक फैल रही थी। सामन्ती वर्ग की नारी (= सुन्दरी, कामिनी नारी) के प्रति, अपने वैभव के बल पर भोग्या बनाने की जो प्रवृत्ति बढ रही थी, सुन्दरदास ने उसका खुलकर विरोध किया है। उनके समक्ष, वाणी के माध्यम से बहुजन समाज में सात्विकता का प्रसार करना उद्देश्य था। सुन्दर-वाणी ने सामाजिक चेतना को, संकीर्ण भोगवाद से उबारते हुए, लोक-जीवन में नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा की है। सुन्दरदास की कविता, काम के प्रसार के बीच, राम की प्रतिष्ठा के साथ, अपने मूल्यवादी स्वर के रूप मे, काव्यादर्श प्रस्तुत करती रही है। इसीलिए उन्होंने *भानुदत्त* एव *केशवदास* जैसे शृंगारी कवियों में अर्थात् चतुराई रचनेवाले कवियों को खूब दुतकारा है। उनका कहना है कि ऐसे मांसल नगे शृंगार को पढ़कर जन-सामान्य अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति कैसे सावधान रह सकता है? अत एक समाज दिग्दर्शक आचार्य के समान, निर्भीक तेवर में सुन्दरदास ने भानुदत्त कृत *रस मंजरी*, केशवदास कृत *रसिकप्रिया* तथा शृंगारी कवि सुन्दर कृत *सुन्दर* शृंगार के प्रतिपाद्य को, आम सामाजिक के मानसिक स्वास्थ्य के लिए, रोग-विस्तारक कहते हुए, हानिकर बताया है। छन्दो का मूल पाठ देखिए—

रसिक प्रिया रस मंजरी और सिगारहिं जांनि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आंनि ॥
विषै बनाई आंनि लगत विषयिन कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहै नख शिख नारी ॥
ज्यौं रोगी मिष्ठान खाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जु तौ रसिक प्रिया धारै ॥

रसिकप्रिया कै सुनत ही उपजै बहुत विकार।
जो या माही चित्त दे वहै होत नर ष्वार ॥
वहै होत नर ष्वार बार तौ कछुव न लागै।
सुनत विषय की बात लहरि विषयनि की जागै ॥
ज्यौ कोइ ऊँघै हुतौ लही पुनि सेज बिछाई।
सुन्दर ऐसी जानि सुनत रसिकप्रिया भाई ॥

—सु सवैया 9/5-6

चन्द वदन मृग लोचनी हो, कहत सकल ससार।
कामिनि विष की बेलड़ी हो, नख शिख भरी विकार ॥

—सुं पदा, पद 180

'चन्द्रवदन मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाइ', की तीव्र प्रतिक्रिया यहॉ देखी जा सकती है। सच तो यह है कि रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थो के प्रतिपाद्य को देखकर सन्त सुन्दरदास को जो तीव्र ग्लानि हुई होगी, उस ग्लानि को सन्त-भाव की सदाशयता मे तदाकार करते हुए, अपने परमानन्द भाव वाले अनुभव को ही उन्होने अपनी वाणी-चेतना मे पिरोया है। वे कहते हैं—

जाकौं अनुभव होइ सु जाणै, पायौ परमानन्द निवास।
घी सौ घौटि रह्यौ घट भीतरि, सुख सौं सोवै सुन्दरदास ॥

पतिव्रता-साधु और शूरवीर का सम्मान—सुन्दर-वाणी में निष्ठावान सती अथवा पतिव्रता भाव की प्रतिष्ठा के साथ ही साधु-जीवन एवं पराक्रमी शूरवीर को पूरा सम्मान मिला है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिए पूरी जगह थी।" सुन्दरदास ने विरहिणी जीवात्मा का जो प्रेम प्रस्तुत किया है, वह शृगार-काल की विरहिणी का प्रेम नहीं है। वह तो पतिव्रता भाव में जीनेवाली उस विरहिणी जीवात्मा का प्रेम है, जो अपने प्रिय की वेदना में पूरा जीवन समर्पित कर देती है। यह प्रेम साधु-जीवन जीनेवाले सती का प्रेम है, जो सत पर चलते हुए, व्यापक समता भाव के कारण, समग्र प्राण-तत्त्व की संवेदना लेकर, प्रिय-मिलन के लिए अबाध रूप में जीवन भर करुणार्द्र बना रहता है। इसी तरह वह अपने धनी के लिए प्राणपण से जीवन भर लड़नेवाले सन्त-सिपाही की तरह, शूरवीरता के साथ जीवन-संग्राम मे जूझता रहता है और कभी अपना धीरज नहीं छोड़ता। ऐसा शूरवीर साधु पुरुष, सुन्दरदास की दृष्टि में अपने संकीर्ण *स्व* को स्वाहा करके, आत्मस्वभाव में जीने के कारण, सन्तुलित एवं धीर बना रहता है। ऐसे सती-साधु को सुन्दर ने, कबीर की तरह मरजीवा कहा है। ऐसा मरजीवा जीवन भर प्रत्येक क्षण और प्रत्येक दिशा में युद्ध निरत बना रहता है। ऐसा शूरवीर देह की आसक्ति से ऊपर उठकर, शीश (= अहंकार, निजी स्वार्थ) रहित होकर, युद्ध-निरत बना रहता है। ऐसी ही मानसिक भाव-भूमिका में सुन्दरदास ने *सूरातन कौ अंग* जैसे अध्याय लिखे हैं। इसके अन्तर्गत *सवैया-भाग* में 19 सवैया एवं *साखी-भाग* में 25 साखियों की रचना है। कुछ छन्दांशों में सुन्दर का मन्तव्य देखिए—

सुन्दर कहत कोऊ देह कौ ममत्व नांहि,
सूरमा कै देखियत सीस बिन धर है।

ऐसौ कोऊ सुभट जगत मैं न देपियत,
जाकै आगै कालहू सौ कपि कै परान्यौं है।
सुन्दर कहत ताकी शोभा तिहु लोक मांहि,
साधु सौ न शूरवीर कोऊ हम जान्यौ है ॥
—*सवैया* 19/4,9

अथवा—

सुन्दर तन मन आपनौ आवै प्रभु कै काम।
रण मैं तै भागै नहीं, करै न लौन हराम ॥

सुन्दर धरती धडहडै गगन लगै उडि धूरि।
सूरबीर धीरज धरै, भागि जाइ भकभूरि ॥ —*साखी.* 18/10, 13

यह आठौ याम की जूझ कोई मतवाला ही कर सकता है, कायर नहीं—

बावन बाहिर बुझना, जुझना आठूं याम।
मतवाले का मामला, नहिं कायर का काम ॥

विरह-भाव—सुन्दर-वाणी की प्रेम-साधना और उसमे प्रतिपादित विरह-चेतना व्यापक जीवन की सवेदना का ही परिणाम है। यह विरह-भाव सन्तों के प्रेम-विरह की *जागृत-अवस्था* है। इस चेतना को *दर्द* (= पीडा, वेदना) ही जगाता है और ऐसी जागृति *हरि-कृपा* का परिणाम बताई गई है। इस वेदना की टीस (= कसक) जिसको होने लगती है, फिर वह विरही सुख से सो नहीं पाता। कबीर और दादू इसी विरह की टीस से सो नहीं पाए। परदुःख कातरता से निरन्तर संवेदित बनी रहनेवाली उनकी विरह-चेतना देखिए—

सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥ —क ग्रं, 3/45

'विरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव।'
'दादू घायल दरदबद जागै अरु रोवै॥' —दादू बा. 1,3/80, 125

सन्त-वाणी में निहित यह विरह-दर्द, अपनी विशिष्ट आन्तरिकता के कारण अद्भुत बना रहा है। सुन्दरदास ने *बिरह कौ अंग* तथा *बिरहनि उरांहने कौ अग* उपशीर्षको मे विरहानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति कराई है। परात्पर प्रेम के विरह की ऐसी आग, प्रिय-परमात्मा की कृपा-वर्षा से ही शान्त बताई गई है। जब तक प्रिय-मिलन भाव नहीं जगता, तब तक विरह का दश सालता ही रहता है। जब प्रिय-रामजी हृदय में जागृत हो जाते हैं, उदित हो जाते हैं, तब मिलन-आनन्द भाव शरीर-सीमा में रोके नहीं रुकता। देखिए—

सुन्दर नख शिख परजरै छिन छिन दाझै देह।
बिरह अग्नि तब ही बुझै, जब बरसै पिय मेह ॥
बिरहा बिरहनि सौं कहत, सुन्दर अति अरि भाव।
जब लग तोहि न पिय मिले, तब लग घालौ घाव ॥
अब तुम प्रगटहु राम जी, हृदै हमारे आइ।
सुन्दर सुख सतोष ह्वै, आनंद अग न माइ ॥

—*सु साखी*, विरह /7, 14, 52

बिरहिन है तुम दरस पियासी। क्यौं न मिलौ मेरे पिय अबिनासी ॥

—*सु पदा*,

इस प्रकार सुन्दर-वाणी मे निहित एव संवेदित विरह-भाव, शृंगारादि रति-रस प्रसंगो में वर्णित विरह-भाव नहीं है, जो मात्र *आलम्बन* के समक्ष रहने की स्थिति मे ही उद्‌बुद्ध रह पाता है। यह विरह-भाव तो, साधक सुन्दर की चेतना में विद्यमान समतानुभूति का परिणाम है, जो ज्ञान-विरह की अनुभूति के साथ निरन्तर जागृत बना रहता है। ऐसा बिरह-भाव दुःख की सह-अनुभूति मे ही सहृदय को संवेदित करता है, इन्द्रिय-लोलुपता की मानसिकता में यह क्रियाशील नहीं हो पाता। लोक मे ऐसे विरही की मानसिकता कुछ भिन्न प्रकार की देखी जाती है। प्रेम-साधना वाले ऐसे विरही को सुख-भोग रास नहीं आते। जबकि, आध्यात्मिक चेतना की विचाराग्नि उसे निरन्तर शीतलता प्रदान करती रहती है। इसीलिए सुन्दर-वाणी में प्रतिपादित विरह-सुख का रसास्वादन, ज्ञान-विरह अथवा भाव-विरह में पकी-पगी अथवा रूपान्तरित हुई इन्द्रिय-चेतना द्वारा ही सम्भव है। ऐसी अद्वैत चेतना में ही अरूप गोबिन्द का वह स्वरूप दिखाई दे पाता है, जिसे देखते हुए निरन्तर आनन्द का अनुभव होता है। देखिए—

मेरौ मन लागौ माई री, परम पुरुष गोबिन्द।
चितवत नैननि मोहत सैंननि बोलत बैननि मन्द ॥
अद्‌भुत रूप अरूप सकल अंग दुःखहरन सुखकन्द।
सुन्दर प्रभु अति सुन्दर सोभित निरषत नित आनन्द ॥

—*सुं. पदा*, टोडी 8

सुन्दर-वाणी में भक्ति-भाव—सुन्दर-वाणी का *आश्रय* साधु-हृदय है, जो अपनी निर्मलता में आनन्द-भाव-रस का अनुभव करता-कराता रहता है। यह आनन्द भाव, *राम-रस* के आनन्द की अनुभूति ही तो है। सन्तों ने इस भावानन्द को आनन्द के अतिरिक्त न तो कोई नाम दिया है, न पर्याय माना है और न विलोम। विकृत चेतना के विलास मे ऐसे आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। इस भाव-रस का यदि कोई स्थायी भाव हो सकता है, तो वह आत्म साक्षात्कार की दशा ही है। यह

आनन्दभाव, काव्यशास्त्रीय शान्त रस अथवा भक्तिरस की सीमा मे पूरा समाहित नहीं हो पाता। वैसे भी शान्तरस, निर्वेद भाव का परिणाम माना गया है। सामान्यतः यह निर्वेद भाव, जीवन की जन्म-मरण मूलक नश्वरता, पाप-पुण्य से प्रेरित भय तथा काम-क्रोधादि से उपरति अथवा मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्श से उत्पन्न होता है। अतः यह प्रकृत भाव नही कहलाता। इसीलिए शान्त रस मे, ऋणात्मक प्रवृत्ति की भूमिका बनी ही रहती है। अतः यह भाव, समता भाव पोषक नहीं बन पाता। इसीलिए इस मे जीवन-कर्म प्रायः उपेक्षित रह जाते है। जीवन में एकान्त निवृत्ति का हो पाना, वैसे भी सम्भव नही होता। क्योंकि, राग-द्वेष के संस्कार जीवन में सर्वथा निर्मूल नहीं हो पाते। सन्त सुन्दरदास ने साधु-हृदय मे जिस वृत्ति रूपान्तरण की बात कही है, वह समता-भाव पाने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि कबीरादि की तरह, सुन्दरदास भी गृह-त्याग को मान्यता नही देते। यद्यपि, वे जीवन भर अविवाहित रहकर, तपस्वी-साधक रचनाकार बने रहकर भी, समाज के बीचोबीच बने रहे है। उनकी मान्यता है कि गृहस्थ को, जल में कमल की तरह से रहते हुए, घर और बन के बीच में सन्तुलन की मानसिकता को बनाए रखना चाहिए। उनकी एक रचना *गृह-वैराग्य बोध*, इसी प्रकार के विचारों को, परस्पर संवाद के माध्यम से, प्रस्तुत करती है। उनके द्वारा प्रतिपादित मध्यम भाव, गृहस्थ और संन्यासी के बीच की सन्तुलित मानसिकता को, उसके विचार को आगे बढ़ता है, जैसे बन में रहनेवाला सिह, बन की शोभा बढाता है और बन, सिंह की रक्षा करता है—

> विरक्त धर्म रहै जु गृही तें, गृहि कौ विरक्त तारै जू।
> ज्यौं बन करै सिंघ की रक्षा, सिंघ जु बनहिं उबारै जू॥

सस्कृत के आचार्यो में रूपगोस्वामी (15-16 वीं शती) ने अपने *भक्ति रसामृत सिन्धु* अथवा *उज्ज्वल नीलमणि* ग्रन्थों मे भक्ति-भाव को स्वतन्त्र रस घोषित किया है। पर, सन्तकाव्य के रचनाकारों ने, विशेषतः सुन्दरदास ने, रस-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित भक्ति-रस की सीमा को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि, जिस भक्ति-रस में, श्रीकृष्ण या रामादि देवो को आलम्बन तथा कीर्तनादि के हाव-भावों को अनुभाव रूप में स्वीकार किया गया है, वैसा सन्त-वाणी स्वीकार नही करती। विशेषतः सन्त सुन्दरदास ने ऐसे अवतारों को त्रिदेव की कोटि में डालकर, काल-बन्धनों में बँधे हुए मनुष्यों की संज्ञा दी है और कीर्तनादि को सामान्य क्रिया-कलापों में गिनाया है। सन्त-चेतना मे जो हृदय-विस्तार होता है, वह रस-दशा की साधारणीकृत अवस्था मात्र नहीं है। वह चेतना, शमित राग है अथवा महारागमयी समता प्रधान चेतना का परिणाम है, जिसमें अनुभूति की सघनता के साथ-साथ, लोकमंगल की सहज-प्रवृत्ति भी देखी जाती है। यह लोकमंगल प्रधान भावना, सगुणवाद का विस्तार नहीं कही जा सकती। निर्गुण-चेतना की अनुभूति, जिस-उन्मनि दशा को, सहृदय-सदाशयी पाठक तक पहुँचाती है, उसमे तृष्णाक्षय के उपरान्त तत्त्वज्ञान जन्य सम्यक् बोध-चित्त के विस्तार

होना आवश्यक है। ऐसी वांध-दशा मे काम-क्रोधादि का वैयक्तिक दश तिरोहित हो जाता है। वैसी निवैर भाव-भूमिका में सहज समता भाव का अनुभव होना स्वाभाविक है। इसीलिए सुन्दरदास ने गोपी-कृष्ण-लीला-प्रसंगो को, वासना जागृत बनाए रखने का माध्यम बताया है। इससे भिन्न साधु-चेतना, निरन्तर जागृति मे ही एकरसता के अनुभव का समर्थन करती है।[1] लीलाएँ तो हृदय में सुषुप्त रागों को ही जगाने मे सहायक होती हैं। इस सम्बन्ध में सुन्दरदास का मन्तव्य स्पष्ट है—

सुनि सुनि लीला कृष्ण की हो दून्यौ उपज्यौ काम।
बूड़े काली धार मै हो, कतहूँ नहि विश्राम ॥
पंडित पैंडौ मार्‍यौ हो, कहि कहि ग्रंथ पुरान।
सूतौ सर्प जगाइयौ हो, फिरि फिरि लागौ खान ॥
पहलै आगि बरै हुती हो, पूला नाष्यौ आइ।
रोगी कौ रोगी मिलै तो ब्याधि कहॉ तैं जाइ ॥

—*सु. पदा*, पद 180

ऐसे ज्ञानोदय काल मे चेतना जिस प्रकाश-दीप्ति का अनुभव करती है, उसमें घर और बन के द्वैत की द्विविधा नहीं रहती। वहाँ तो समता भाव का अद्वैत प्रकाशित बना रहता है। इसी विचार को सुन्दरदास ने अपनी साखी में इस प्रकार प्रकट किया है—

सुन्दर ज्ञान प्रकास तैं धोषौ रहै न कोइ।
भावै घर माहैं रहौ, भावै बन में होइ ॥ —*सुं. साखी*, ज्ञानी 30/40

अतः सन्त सुन्दरदास की भक्ति (= उपासना) का विचार त्रिदेववादी नहीं हैं। ज्ञानोदय काल में यह विचार एक निरंजन-निष्ठा मे अपनी आस्था, अपनी श्रद्धा व्यक्त करता रहा है। त्रिगुण को त्याग कर एक निर्गुण-निरंजन का, निर्मल हृदय से ध्यान, सुन्दर-भक्ति के विचार का आधार रहा है। अपने इसी विचार को उन्होंने अपने एक सवैया छन्द में इस प्रकार व्यक्त किया है—

ब्रह्म कुलाल रचै बहु भाजन, कर्मनि कैं बसि मोहि न भावै।
विष्णु हु संकट आइ सहै ग्रभ काहु कौं रक्षक काहु सतावै ॥
शकर भूत पिशाचनि के प्रति पानि कपाल लिये बिललावै।
याहि तैं सुन्दर त्रीगुन त्यागि सु निर्मल एक निरंजन ध्यावै ॥

—*सुं. सवैया.*, निर्गुण 15/1

यहॉ जिज्ञासा यह होती हे कि निर्गुण-उपासना अथवा चेतना को, भक्ति किस

1 सोवण का सुख और है, जागण का सुष और।
जब जाग्या तब एक रस, तहां साधा की ठौर॥ —*हरि. वा.* पृ 38

प्रकार कहा जा सकता है? इस सन्दर्भ मे सुन्दर-वाणी में निहित निर्गुण-भक्ति के आलम्बन की पहचान करना आवश्यक है। सुन्दर की कविता ही नहीं, समूचे सन्त-काव्य का केन्द्रिय भाव हरि-जस अथवा हरि रस (= आनन्द) ही है। परिचय के साथ इस *रस* का जो भावन करता है वस्तुत: वही *हरि रस* का आस्वाद ले पाता है।[1] सुन्दरदास ने ऐसी रचना करनेवाले को ही उत्तम कवि की श्रेणी में माना है—

उत्तम मध्यम अधम कवि उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम बरणत मानुषनि, दोषनि अधम अधीन ॥

ऐसे हरिरस में प्रतितिष्ठत बने रहने के लिए अर्थात् निरन्तर जागृति भाव में जीने के लिए सत की संगति पर ज़ोर दिया गया है। सन्तों द्वारा वाणी में प्रतिपादित सत्य-सत्ता की भाव-निष्ठा में, भेद-भाव अथवा ऊँच-नीच की भेद-रेखा नहीं खीची जा सकती। *अभय पद* के भावन मे सभी प्रकार के द्वैत-दोषों का परिहार हो जाता है। ऐसी भाव-चेतना ही, निर्गुण-भक्ति की भाव नौका है, जिसमें बैठने पर सभी के सन्तरण का निश्चय, व्यक्त किया गया है। भक्ति सम्बन्धी ऐसे विचार को, सुन्दरदास के प्रस्तुत सवैया छन्द में देखा जा सकता है—

सो अनयास तिरै भव सागर जो सत संगति मै चलि आवै।
ज्यौ कणिहार न भेद करै कछु आइ चढ़ै तिहिं नाव चढ़ावै ॥
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यहू शूद्र मलेछ चंडालहि पार लंघा वै।
सुन्दर बार कछू नहिं लागत या नर देह अभै पद पावै ॥

—*स. सवैया.*, साधु. 20/8

अतः सुन्दर-वाणी में प्रतिपादित भक्ति-भाव, उपासना भाव का ही पर्याय बनकर आया है। इष्ट नाम, साकार और निराकार दोनों ही उपासनाओ में प्रायः एक-से दिखाई देते है। हॉ, निराकार-निर्गुण उपासना में, अन्तरात्मा का ध्यान अथवा मानसी-पूजा प्रधान रहती है। निरन्तर रमता-राम ही चेतना मे जागृत-आलम्बन बनकर आता है।[2]

सुन्दरदास ऐसी भक्ति के मार्ग पर चलने के लिए, नवधा भक्ति को प्रमुखता न देकर, प्रेम-भक्ति में विचार-विवेक को महत्त्व देते हैं। वे मानते है कि त्याग-वैराग्य, समता भावना और सत्य-सत्ता के अनुभव में, चेतना की सुरति स्वतः (= सहज) ही जागृत हो उठती है। हृदय में इन भावों की धारणा से,नवधा भक्ति की चर्या तो अपने आप ही समाहित बनी रहती है। देखिए—

---

1 परिचै राम रमै जे कोई। या रस परसे दुविध न होई॥ —*स बा* सग 2, रैदास,

2 सहजै सहजै सब गए सुत बित कांमणि कांम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दासि कबीरा राम॥—*क.ग्र* मन 13/3
दादू निरंतर पिउ पाइआ तीन लोक भरपूर।—*स. बा सग्र.* 1, पृ 92

ये चार्‌यौ अग भक्ति के नौधा इनहीं माहिं।
सुन्दर घट महिं कीजिये, बाहरि कीजै नाहिं ॥ —*सर्वांग* प्रदी 2/51

उस परम भाव में निमग्न बने रहना ही सुन्दर-प्रतिपादित भक्ति का लक्ष्य कहा जा सकता है। ऐसी भक्ति में उमड़ता हुआ प्रेम-भाव, जाति-पॉति, कुल-गौरव, ऊॅच-नीच, लाज-मर्यादा, विधि-निषेध आदि सभी की सीमाओं का व्यक्तिक्रम कर, हर समय मतवाला बनाए रखता है। यह भाव निरन्तर हरि में ही लय होने का अनुभव कराता है। ऐसी विलक्षण प्राणानुभूति के अनुभव को सुन्दरदास ने एक छन्द मे अभिव्यक्त किया है–

प्रीति की रीति नहीं कछु राषत जाति न पाति नहीं कुल गारौ।
प्रेम कै नेम कहूं नहि दीसत लाज न कांनि लग्यौ सब षारौ ॥
लीन भयौ हरि सौं अभिअंतर आठहुं जाम रहै मतवारौ।
सुन्दर कोउ न जांनि सकै यह गोकुल गांव कौ पैंडो ही न्यारौ ॥
—*सु सवैया.*, प्रेम पराज्ञान. 31/1

सुन्दरदास की प्रेम-साधना में किसी शंका, किसी द्विविधा अथवा द्वैतजन्य किसी अन्य प्रकार का असमंजस शेष दिखाई नहीं देता। सुन्दर कहते हैं कि जिस हृदय में ज्ञानजन्य प्रेम भावोदय हो जाता है, वह निर्द्वन्द्व भाव से पृथ्वी पर विचरण करता है। देखिए–*द्वन्द्व बिना बिचरै वसुधा परि जा घट आतम ज्ञान अपारौ।* उपास्य के प्रति ऐसी संकल्पी दृढ आस्था, भक्ति की अनन्यता एवं तन्मयता का ही परिणाम होती है। ऐसी भाव-भूमिका में विधि-निषेध की सारी सीमाएँ टूट जाती है। ऐसी प्रेम साधना ही इन्द्रियातीत कहलाती है। भक्त की ऐसी ही मनोभूमि को सुन्दरदास ने प्रस्तुत पद में अभिव्यक्त किया है। देखिए–

लागी प्रीति पिया सौं सांची। अब हूं प्रेम मगन होइ नांची ॥
लोक बेद डर रह्यौ न कोई। कुल मरजाद कदे की षोई ॥
लाज छोड़ि सिर फरका डारा। अब किन हॅसौ सकल संसारा ॥
भावै कोई करहु कसौटी। मेरे तन की बोटी बोटी ॥
सुन्दर जब लग सका राखै। तब लग प्रेम कहां तें चाषै ॥
—*सु पदा.*, पद. 154

ऐसा ब्रह्म अखण्डित भाई। बार पार जान्यौ नहिं जाई ॥
× × ×
लौन पुत्तरी थाघ दरिया। जात जात ता भीतरि गरिया ॥
—*सुं. पदा.*, पद 55

सुन्दरदास प्रतिपादित यह प्रेमाभक्ति, प्रियतम के प्रति प्रिया (जीवात्मा) की

अनन्यता की भक्ति है। यह पतिव्रत, साथ एकांतनिष्ठा भाव-चेतना से, जागृत बनी रहती है। ऐसी अभिव्यक्ति में सुन्दरदास ने जीवात्मा का परमात्मा के प्रति चित्ताकर्षण के साथ वियोग-भाव की व्यंजना कराई है। साथ ही भारतीय परिवारों में नारी की पति के प्रति एकनिष्ठा अर्थात् एक पुरुष (= पति) के लिए *एक स्त्री* (= पत्नी) का सिद्धान्त भी व्यंजित देखा जा सकता है। पति की मर्यादा को बताते हुए पत्नी (= जीवात्मा) की पति-परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा को ही सुन्दरदास ने *पतिव्रत* कहा है। *इस* पतिव्रत के सिद्धान्त में ही, 'पति' शब्द के श्लेष से, योग-ज्ञान, जप-तप, तीर्थ-स्थान आदि की मर्यादाओ को समेट कर, एक विधि रचते हुए, प्रस्तुत किया है। देखिए—

पति ही सौं प्रेम होइ पति ही सौ नेम होइ,
पति ही सौ क्षेम होइ पति ही सौ रत है।
पति ही है यज्ञ योग पति ही है रस भोग,
पति ही है जप तप पति ही कौ मत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान पति ही है पुन्य दान,
पति ही तीरथ न्हांन पति ही कौ मत है॥
पति बिना पति नांहिं पति बिन गति नांहिं,
सुन्दर सकल बिधि एक पतिब्रत है॥

—*सु. सवैया.,* पतिब्रत. 14/7

ऐसी निष्ठा या प्रेम-भाव के बिना, व्यक्ति का समाज-जीवन, मूल्यहीन अथवा निरर्थक ही समझा जाता रहा है। पति (= मर्यादा, आदर्श) रूप केन्द्रिय मूल्य *राम* के बिना, मनुष्य जीवन का मूल्य रत्ती भर का नहीं रह जाता। देखिए—

आनकि वोर निहारत ही, जैसें जात पतिब्रत एक व्रती कौ।
होत अनादर ऐसीहि भाति जु पीछै फिरै पुनि सूर सती कौ॥
× × ×
राम हृदै तैं गये जन सुन्दर, एक रती बिन एक रती कौ॥

पतिव्रत *भाव* में समाज-जीवन का शील-आचरण और मरजाद (= मर्यादा) की रक्षा का भाव प्रधान रहता है। जो लोक-लाज अथवा समाज की मर्यादा उतार कर फेक देता है, वही व्यभिचारी है, ग़ैर ज़िम्मेदार है। सुन्दरदास पतिव्रत भाव में ही सती (= सत पर चलने की निष्ठा)-जीवन की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

पतिव्रत ही मै शील है, पतिव्रत मैं संतोष।
सुन्दर पतिव्रत राम सौं, वह ई कहिये मोष॥
सुन्दर जो बिभिचारिणी, फरका दीयौ डारि।
लाज सरम वाकै नहीं, डोलै घर घर वारि॥

जैसा कि कहा जा चुका है, पतिव्रत भाव के समान ही सुन्दरदास ने शूरवीर के जीवन एव साधु-जीवन की *रहनी* को भी पूरा सम्मान दिया है। वे कहते हैं कि शूरवीरता अथवा पराक्रमी भाव-विचारो के बिना, भक्ति अथवा आध्यात्मिक जीवन जीने की समूची प्रक्रिया, कायरता अथवा पलायनवादी मनोवृत्ति का ही पोषण करती है। कबीर ने जिस पतिव्रत भाव में *'शीश उतारै भुइं धरै तब पैठे घर माहिं'* कहा है और शूरवीरता के भाव में वे *'सूरा ताहि सराहिये जो लड़ै धनी* (= स्वामी, इष्ट आदर्श) *के हेत'* कहते हैं, ऐसे ही साधु भाव के जीवन-आचरण के लिए—*निरबैरी निहकांमता सांई सेती नेह'* को कबीर ने अपना आदर्श बताया है। सुन्दरदास ने भी ऐसे शूरवीर-साधु के भाव-विचार को अपना आदर्श माना है—

सुन्दर कहत ऐसौ कोऊ एक सूरबीर,
सीस कौं उतारि कैं सुजस जाइ लीनौं है।

अथवा—

सुन्दर कहत कोऊ देह कौ ममत्व नाहिं,
सूरमा कै देखियत सीस बिनु धर है।

अथवा—

साधु सौ न सूरबीर कोऊ हम जान्यौ है।

जिस प्रकार शूरवीरता में निरन्तर पराक्रम भाव की आवश्यकता रहती है, साधुत्व पाने या जीने के लिए भी निरन्तर सत्संग की आवश्यकता बनी रहती है। इसी प्रकार सुन्दरदास ने सती भाव की सिद्धि के लिए, इन्द्रियों के आकर्षण-विकर्षणों के बीच, संकल्प के सहारे आचरण को, तलवार की धार पर चलने के समान, निर्धारित किया है।

मुक्ति का विचार—भक्ति के उक्त सन्दर्भ में निर्गुण-*भक्ति में मुक्ति का विचार* विषय की चर्चा आवश्यक है। सामान्यतः निर्गुण-भक्ति ज्ञानमार्गी भक्ति कहलाती है और ज्ञान-मार्ग में मुक्ति का विचार सर्वोपरि माना गया है। किन्तु सुन्दर-वाणी में अद्वैत-विचार सर्वोपरि होते हुए भी, अद्वैत-भूमिका को *'प्रेम परा ज्ञान'* कहा गया है। इसीलिए सुन्दर-वाणी में प्रतिपादित भक्ति और भक्त, *मुक्ति* का पिछलग्गू बनकर नहीं जीता। कुछ सन्तों ने तो मुक्ति पाने का भी तिरस्कार किया है। ऐसी ज्ञानमयी *भक्ति* की मौज-मस्ती में, कुछ सन्तों ने तो, मुक्ति को द्वार पर खड़ी रखकर, झाड़ू लगवाने का काम सौंपा है।[1] सुन्दरदास ने भी, आनन्दभाव की

1 मुक्ति रहै द्वारै खडी, लट से झाड़ू देइ।
बार बार बिनती करै, पलटूदास न लेइ॥—पलटूदास

अनुभूति के समक्ष मुक्ति को, 'धोखे की निशानी' तक कहा है। वास्तव में ज्ञान-मार्ग में, मुक्ति कोई उपादान कारण या लक्ष्य नही है। वहॉ तो निजस्वरूप की पहचान ही उपासक का लक्ष्य रहता है। उस लक्ष्य के समक्ष, मुक्ति का ठॅार-ठिकाना नही रहता। जैसे और भ्रम है, मुक्ति भी तो भ्रम (= धोखा) जनित मान्यता का ही परिणाम है। आत्म चैतन्य की अवस्था मे, शास्त्र या पोथी-प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। सुन्दर कृत प्रस्तुत छन्द की, अद्वैत भाव-भक्ति में मुक्ति-पद के विचार को, जीवन्मुक्ति के विचार से जोडते हुए, आत्मस्वरूप को जानने की प्रेरणा दी गई है—

मुक्ति तौ धोषै की नीसानी।
सो कतहूं नहि ठौर ठिकाना, जहँ मुक्ति ठहरानी ॥टेक ॥
को कहै मुक्ति रहै पृथ्वी पर ढूंढै तौ कहुं नांहीं।
को कहै मुक्ति ब्योम के ऊपर, को पताल के मांहीं ॥
× × ×
जीवत कष्ट करैं बहुतेरे मुये मुक्ति कहैं जाई।
धोषै ही धोषै सब भूलै आगै ऊबावाई ॥
निज स्वरूप कौं जानि अखंडित ज्यौं का त्यौं ही रहिये।
सुन्दर कछू ग्रहै न त्यागै, वहै मुक्ति पद कहिये ॥

—*सु. पदा*, आसावरी, पद 105

सुन्दरदास ने मुक्ति-विचार को आगे बढ़ाते हुए कहा है कि मुक्ति का अस्तित्व तो तब होता है, जब माया का अस्तित्व मान लिया जाता है। अद्वैत-विचार जन्य चेतना में प्राण-चेतना, आत्मभाव अथवा ब्रह्म-सत्ता की व्याप्ति ही तो, आदि-मध्य और अन्त सभी कालों में सर्वत्र अनुभव में आती है। इस अनुभव की प्राप्ति सुन्दरदास ने तभी सम्भव बताई है, जबकि बुद्धि से भ्रॉति का निवारण हो चुका हो। अन्यथा पाखण्ड का विचार भी प्रसार पाता ही रहता है और वाचक ज्ञानी, सत्य सत्ता (= ब्रह्म) की अनुभूति के बिना ही, उसको जानने की बात कहकर, लोक-धर्म का कार्य बताते हुए, लोगों में पाखण्ड फैलाते रहते हैं। जब जगत् की सृष्टि *जगदीश* से हुई मानी जाती है और जगदीश सत्य है, तब फिर जगदीश की छाया (= प्रतिभास, माया-सृष्टि) अत्सय कैसे हो सकती है? सूर्य यदि प्रकाशमय है, तब उसके रहते अँधेरा कहॉ ठहर सकता हे? कारण से ही तो कार्य होता है। सृष्टि का जो आदि कारण है, वही तो मध्य और अन्त मे भी रहेगा। इस विचार को सुन्दरदास ने अनेक उदाहरण एव दृष्टान्तों द्वारा समझाया है। ज्ञानालोक मे भला अज्ञान का अन्धकार कैसे टिक सकता है?[1] देखिए—

1 जाकै हृदै महिं ज्ञान प्रकाशत, ताकौ सुभाव रहै नहि छानौ।
नैन मै बैन मै सैन मै, जानिये ऊठत बैठत है अलसानौ ॥ —*सु. सवैया*, ज्ञानी 29/1

आदि हुतौ सोइ अन्तर है पुनि मध्य कहा कछु और कहावै।
कारण कारय नाम धरे जुग कारय कारण मांहि समावै ॥
कारय देषि भयौ बिचि बिभ्रम कारण देषि बिभ्रम्म बिलावै।
सुन्दर या निहचै अभिअन्तर, द्वैत गये फिरि द्वैत न आवै ॥

—*सु. सवैया* अद्वैत 32/22

एकहि ब्रह्म रह्यौ भरपूर तौ दूसर कौंन बताव निहारौ।
जो कोउ जीव करै जु प्रमान तौ, जीव कहा कछु ब्रह्म तै न्यारौ ॥
जो कहै जीव भयौ जगदीस तै तौ रवि माहिं कहां कौ अधारौ।
सुन्दर मौंन गही यह जानि कै कौंनहु भांति न होत न्रिधारौ ॥

—*सुं. सवैया.* आश्चर्य 34/11

अतः कह सकते है कि आत्म दृष्टि को ही सुन्दरदास ने, जीवन-व्यवहार एवं विचार-दर्शन में सर्वत्र व्यापक और प्रतिष्ठित माना है। इस मूल विचार तत्त्व को पहिचानने के लिए ही, सुन्दर का विचार-दर्शन, वाणी में छन्द-बद्ध हुआ है। यह आत्म-दृष्टि ही उनके लिए जीवन-व्यवहार की विचार-दृष्टि है। वही लोक-व्यवहार में मानवीय सम्बन्धों की विश्व-दृष्टि भी है, जो सांख्य-ज्ञान की अद्वैत दृष्टि से पुष्ट होकर निरूपित हुई है। आत्मा को विश्व में और विश्व-चेतना को आत्मा मे देखते हुए, वे कारण-कार्य सम्बन्धों का निर्धारण करते रहे हैं—

यौं आतमा विश्व है सोई।

यौ आतमा विश्व नहिं दोई।—*सुं.ग्र.*।, सर्वांग, छन्द 18, 21
कारण आतम आहि अखंडा। कारय भयौ सकल ब्रह्मंडा ॥

—*वही,* छद 13

सद्गुरु विचार-तत्त्व—सुन्दर-वाणी मे गुरु-दर्शन एवं गुरु-तत्त्व चिन्तन का सम्यक् विवेचन हुआ है। सन्त-चेतना में व्याप्त पूरे गुरु-भाव को सम्मान देते हुए भी, सुन्दर ने अपने सम्प्रदाय-गुरु को, अपनी चर्या-साधना मे प्रतिष्ठित ही नहीं किया, अपनी वाणी-रचना का केन्द्रिय धर्म भी माना है। वैसे तो, पूरी सन्त-विचार-परम्परा ही गुरु-भाव की परम्परा मानी जाती है। इसीलिए सुन्दरदास ने पूरे गुरु-मत को सम्मान देते हुए भी, अपने गुरु दादूजी महाराज को ही, अपनी हार्दिक प्रेरणा का स्रोत बताया है—'और तौ संत सबै सिर ऊपर, सुन्दर कै उर है गुरु दादू । (—*सवैया.*, गुरु. 1/5) अतः कह सकते हैं कि समूचे सन्त-काव्य के समान ही सुन्दरदास ने *गुरु-भाव* को, वाणी-आचरण का केन्द्रिय मूल्य बनाकर प्रतिष्ठित किया है। लोक में विचार-अनुभव के धरातल पर नैतिकता एव आध्यात्मिकता के उत्कर्ष के लिए अथवा रूढ़ि-भ्रांति निवारण के लिए अथवा दिशा-निर्देशक तत्त्वबोध के लिए, गुरु-तत्त्वज्ञान सही मार्ग-दर्शन कराता है। इसीलिए सुन्दरदास ने अपनी वाणी में अगाध निष्ठा के

साध गुरु की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि ज्ञानी को भी, गुरु के बिना भटकना पड सकता है। गुरु के बिना ज्ञान, अँधेरे मे रखे हुए दर्पण के समान होता है। क्योंकि, उसमें उसे निज स्वरूप नही दिखाई देता—*गुरु बिनु ज्ञान, अधेरे माहि आरसी*। सुन्दरदास की मान्यता है कि विचारवान लोग, गुरु अथवा गुरु-भाव को, मार्ग-दर्शक के रूप में, सदा साथ रखते है। फिर वही गोविन्द तक पहुँचाता भी है। गुरुदेव कृत कृपा-कार्यो की ओर सकेत करते हुए सुन्दर ने अपनी वाणी का बहुत बड़ा भाग गुरु को समर्पित किया है—

गुरुदेव बिना नहिं मारग सूझइ, गुरु बिन भक्ति न जानै।
गुरुदेव बिना नहि संशय भागय, गुरु बिन लहै न ज्ञानै ॥
गुरुदेव बिना नहिं कारय होई, लोग वेद यौं गावै।
गुरुदेव बिना नहिं सदगति होई, गुरु गोबिन्द बतावै ॥

गुरु-भाव की प्रतिष्ठा के बिना हृदय निर्मल नहीं हो पाता और निर्मल हृदय के बिना प्रेम-भाव का उदय सम्भव नहीं है। यही नहीं, निर्मल हृदय के सहज-विस्तार के बिना, जीवन्मुक्ति अथवा *मोक्ष पद* की अनुभूति सम्भव नहीं है। अतः गुरु-कृपा से ही ऐसा तत्त्व-ज्ञान हमारी चेतना में जागृत हो पाता है। इस सम्बन्ध में सुन्दरदास के ये कवित्त छन्द उल्लेखनीय है—

गुरुदेव बिना नहिं शुद्ध हृदं। गुरुदेव बिना नहि मोक्ष पदं ॥

अथवा—

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा कौ ग्रहै,
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीतहूं अधिक बाढ़ै,
गुरु के प्रसाद राम नाम गुन गाइये ॥
गुरु के प्रसाद सब योग की जुगति जानै,
गुरु के प्रसाद शून्य मैं समाधि लाइये।
सुन्दर कहत गुरुदेव जौ कृपालु होहिं,
तिन के प्रसाद तत्व ज्ञान पुनि पाइये ॥

—*ज्ञान समुद्र*, उल्लास 1/10-12

सुन्दर-वाणी के *सवैया-भाग* में 27 सवैया छन्द एवं *साखी भाग* में 102 साखियों की रचना, सुन्दरदास ने *गुरु कौ अग* उपशीर्षक के अन्तर्गत की है। यही नहीं, उन्होंने गुरु को केन्द्र मे रखकर *गुरु प्रार्थना अष्टक, सद्गुरु महिमा नीसांनी, गुरु-दया षटपदी, गुरु कृपा अष्टक, गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक, गुरु महिमास्तोत्राष्टक* आदि लघु रचनाएँ भी गुरु-बोध की प्रतिष्ठा मे रची हैं। पद-रचना में भी सुन्दरदास

ने गुरु-कार्य के महत्त्व को बडी उमंग के साथ गाया है। यही नहीं, सूफियों की तरह सुन्दरदास ने भी गुरु (= पीर, उस्ताद)-ध्यान मे लीन (= ग़र्क) होकर *ब्रह्मलीन* (= फना) होने की बात कही है। *गुरु-भाव* के अनुभव-प्रसाद में, कबीर की तरह सुन्दरदास को भी गुरु और परमात्मा एकाकार होते दिखाई देते है। जहॉ कबीर कहते हैं—

'गुरु गोबिंद तो एक है, दूजा यह आकार।'

वहीं सुन्दरदास का विश्वास इस प्रकार मुखर हुआ है—

परमेश्वर अरु परमगुरु, दोऊ एक समान।
सुन्दर कहत विशेष यह, गुरु तैं पावै ज्ञान॥
परमेश्वर में गुरु बसै, परमेश्वर गुरु माहि।
सुन्दर दोऊ परस्पर, भिन्न भाव सो नाहिं॥

ऐसा सद्गुरु मिलता कैसे है, वह अनुभव में किस प्रकार आता है? इसके लिए सुन्दरदास ने चेतना को, निरन्तर शोध-निरत रखने की प्रेरणा दी है—

षोजत षोजत सद्गुरु पाया। भूरि भाग्य जाग्यौ शिष आया॥

ऐसे सद्गुरु से जो गुरु-ज्ञान मिलता है, वही अनुभव में भी आता है और फिर वही चेतना का अवलम्ब अथवा पाथेय बनकर, मनुष्य को ज्ञान-मार्ग पर अग्रसर करता है। इस मार्ग पर चलते हुए भेद-दृष्टि तिरोहित हो जाती है और आचरण में समता-भाव की प्रेरणा मिलने लगती है। गुरुज्ञान होते ही जीवन में द्वैत जन्य द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। ऐसा ही *अनुभौ* (= भाव-बोध), सुन्दर-वाणी का प्रतिपाद्य बना रहा है। *सहृदय* में लोक-मगलकारी भाव की ऐसी प्रतिष्ठा, गुरु-भाव के प्रवेश किए बिना, सम्भव नहीं हो पाती। इस विषय में सुन्दर रचित एक पद पठनीय है—

ज्ञान जहाँ तहॉ द्वंद्व न कोई।
बाद बिबाद नहीं काहू सौं, गरक ज्ञान में ज्ञानी सोई॥
भेदाभेद दृष्टि नहिं जाकै, हर्ष शोक उपजै नहिं दोई।
समता भाव भयौ उर अन्तर, सार लियौ सब ग्रंथ बिलोई॥
स्वर्ग नरक संशय कछु नाही, मन की सकल बासना धोई।
वाही कै तुम अनुभव जानौं, सुन्दर उहै ब्रह्ममय होई॥

—*सं. पदा.*, कानडौ, पद 30

हिन्दू-मुसलमानों के प्रति परस्पर सौमनस्य वृत्ति—जहॉ तक जाति-धर्म के आधार पर वैमनस्य अथवा विरोध की बात है, सुन्दरदास ने ऐसे अतिवादी विचारों का सदा तिरस्कार किया है। कबीर मे जो विचार—*'ना हिन्दू ना मुसलमान'*, कहने से प्रतिपादित हुआ है, उसी को सुन्दरदास ने जीवन-धर्म कहकर, मनुष्य-भाव की

प्रतिष्ठा की है। वे सभी को जाति की अतिवादिता त्याग कर, समरसता वाले विवेक-मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहे हैं। वे कहते हैं कि जन्म लेनेवाला शिशु, विशेष जातियों के चिह्न लेकर पैदा नही होता। फिर पथ क्यों चल पडते है? हिन्दू-तुरुक यह भेद वुद्धि-भ्रम से महसूस होती है। इसीलिए ऐसे भेदक स्वभाव (= धर्म) को हमने त्याग दिया है। देखिए—

चिन्ह बिना सव कोई आये। यहा भये दोइ पथ चलाये।
हिन्दू तुरक उठ्यौ यह भर्मा। हम दोउ का छाड्या धर्मा ॥

—*सु ग्रं.* 1, सहजा 27/2

सुन्दरदास द्वारा आचरित ज्ञान-मार्ग मे कल्पना से अधिक यथार्थ को महत्त्व दिया गया है। विचारक-ज्ञानी आसमान मे नहीं उड़ता। इस धरती पर ही आचरण करता है। चेतना के उत्कर्ष के लिए वह अध्यात्म का अवलम्ब अवश्य लेता है। ज्ञानी की स्थिति बताते हुए सुन्दर का यह कथन विचारणीय है, जिसमें वे मुनष्य की सीमित समझ पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए, स्व कर्म के साथ सार्थक जीवन जीने के लिए, जागृत बने रहने की चेतावनी भरी प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

सकल सिरोमनि है नर दोहा। नारायन कौ निज घर येहा।
जामहिं पइये देव मुरारी। अइया मनुष्हुं बूझि तुम्हारी ॥
चेति सकै सौ चेतुहु भाई। जिनि डहकावो राम दुहाई।
सुन्दरदास कहै जु पुकारी। अइया मनुषहुं बूझि तुम्हारी ॥

—*सु. ग्रं.* 1, तर्क चितावनी 0, 30/56

सुन्दरदास ज्ञान-चेतना मार्ग पर, साधक-विचारक पथिक को चलने-चलाने की प्रेरणा तो देते ही हैं, विचार की आग से सर्वप्रथम वे कुवृत्तियों को, आसक्तियो को परिष्कृत करने की जिज्ञासा पैदा करते हैं। परिष्कृत वृत्तियाँ ही समरसता एवं एकात्म भाव-सत्ता का अनुभव करा सकती है। उनकी मान्यता है कि विचार-अनुभव की परिपक्वता मे सभी प्रकार के वर्ग-वर्ण अथवा अहंकार जन्य भेद तिरोहित हो जाते हैं। अपने ज्ञान-विचार-विवेक को समझाते हुए उन्होंने जिज्ञासा भरे अन्दाज़ में कहा भी है कि दीपक यदि ब्राह्मण के घर में जलता है अथवा चाण्डाल-अन्त्यज के घर में तो इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है। वह निश्चित ही वहाँ पसरे अन्धकार का नाश करेगा। सूर्य का प्रकाश ब्राह्मण के कलश और अन्त्यज के घड़े में समान रूप से ही तो पडता है। सूर्य दोनों में कोई भेद नहीं करता। इसी प्रकार दृष्टि यदि ठीक है और दर्पण भी साफ़ है, तो चाहे ब्राह्मण हो, गरीब हो अथवा राजा हो अथवा रंक हो, वह अपना चेहरा देखने में समर्थ हो सकता है—

दीपग जोयौ बिप्रघर पुनि जोयौ चंडाल।
सुन्दर दोऊ सदन कौ तिमिर गयौ तत्काल ॥

अंत्यज के जल कुंभ मैं, ब्राह्मण कलस मंझार।
सुन्दर सूर प्रकासिया, दुहुंवनि मैं इकसार ॥
अंत्यज ब्राह्मण आदि दै किंवा रंककि भूप।
सुन्दर दर्पन हाथ लै, सौ देषै निज रूप ॥

–*सुं. साखी.*, ज्ञानी. 30/54-56

मन की दौड या उड़ान के रुकने अथवा अनुशासित करने पर अपनी ही आधार-पीठिका सहारा देती है, अवलम्ब बनती है। उसी प्रकार जैसे पक्षी के पंख आहत होने पर, वह जिस भूमिका पर ठहरता है, वहीं उसे जीवन-आधार मिलता है। देखिए–

सुन्दर ज्ञान प्रकास तें धोषौ रहै न कोइ।
भावै घर माहैं रहो, भावै बन मै होइ ॥
पंषी कौ पर टूट कैं, भूमि पर्यौ जिहिं ठौर।
सुन्दर उडिबे तें रह्यौ, मिटी सकल ही दौड़ ॥

–*सुं. साखी*, ज्ञानी. 30/44-46

लोकाचरण में ज्ञानी, आत्म-ज्ञान के अनुभव को लेकर उसी प्रकार निरत रहता है, जिस प्रकार पुष्प की सुगन्ध चारो ओर विचरती है, उसे पकड कर उसके प्रसार को कोई रोक नहीं पाता। इसीलिए अनुभव-ज्ञानी की बुद्धि को सुन्दरदास ने गुलाब की तरह सुगंधित बताया है। इसी प्रकार शब्द भी, पुष्प की तरह, सुगन्धि-प्रकाश (= उजास) बिखेरते रहते हैं। देखिए–

बिरवा बुद्धि गुलाब है, शब्द सु फूल प्रकास।
सुन्दर आतम ज्ञान कौं अनुभौ मध्य सुबास ॥

–*सुं साखी.*, आत्मानुभव 28/51

सुन्दरदास की वाणी में लोकयथार्थ–आत्मानुभव की समरस व्यापक भूमिका के लिए मनुष्य-जीवन में अन्न का महत्त्व अथवा भूख का प्रश्न, युग-युगों से जीवन्त एवं शाश्वत प्रश्न बना रहा है। सन्तों ने अन्न की महत्ता को जीवन के लिए सर्वोपरि माना है। सुन्दरदास की तो यहाँ तक मान्यता है कि भूख का पक्ष सर्वाधिक प्रबल होता है, क्योंकि भूख के सामने किसी की भी नहीं चलती। सभी के प्राण अन्न पर निर्भर रहते हैं। चाहे कोई कितनी ही बातें बनाए, अन्न-उपेक्षा कर पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। भूख सभी के लिए, समान-व्यवहार करती है। सुन्दर कृत एक प्रसिद्ध पद यहाँ उदाहरणीय है–

सब कै आहिं अन्न में प्रान।
बात बनाइ कहौ कोउ केती, नाचि कूदि कै तूटत तांन ॥ टेक ॥

पडित गुनी सूर कवि दाता जो कोउ और कहावत जांन।
जठरा अग्नि प्रगट होइ जवही, तबहीं बिसरि जाइ सब ज्ञान ॥
मीर मलिक उमराव छत्रपति, औरउ कहियत राजा रांन।
जद्यपि सकल सपदा घर मै, तद्यपि मुख देषियत कुमिलान ॥
आसन मारि रहे बन माहीं तेऊ उठत होत मध्यांन।
सुन्दर ऐसी क्षुधा पापिनी, रहै नही काहू कौ मान ॥

—*सु पदा*, बिलावल, पद 79

सुन्दरी की उलटी बात—सन्त-परम्परा के अनुसार ही सुन्दरदास ने रूढ़िवादिता, गतानुगतिकता अथवा लीक पर चलने के विचार का लगातार प्रतिरोध और व्यक्तिक्रम किया है। रूढ़ि-लीक पर न चलने की बात को ही उन्होने उलटी चाल अथवा उलटी बात [-विपर्यय] शैली मे अभिव्यक्त किया है। सच तो यह है कि सुन्दरदास की, साधना गन्तव्य के लिए, मान्यता यह है कि लोक-रूढ़ि के विपरीत चलने (= आचरण करने) से ही, सत्य-सत्ता रूप परम गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है, भेडचाल के द्वारा नहीं। इस सम्बन्ध में उनके स्पष्ट विचार पढ़िए—

सत चले दिस ब्रह्म की तजि जग व्यवहारा।
सीधे मारग चलतै निंदै संसारा ॥
सतगुरु शब्द हूँ जे चले तेई जन छूटे।
जग मरजादा में रहे ते मुहकम लूटे ॥
बाबा अरु दादा चले ते मारग षोटा।
सो ब्यापार न कीजिए जिहिं आवै टोटा ॥
पथ पुरातम कहत हैं, सब चलता आया।
सुन्दर सो उलटा चलै, जिन सतगुरु पाया ॥

—*सुं. पदा.*, रामगरी, पद 136-37

सुन्दरदास ने अपनी उलटी चाल अथवा उलटी बात के विचार-मर्म को, पद-साखी-सवैया छन्दों में भली प्रकार अभिव्यक्त किया है। कथन मे सांकेतिक एवं पारिभाषिक प्रतीकों को माध्यम बनाकर, कबीरादि सन्तों द्वारा अपनाई गई उलटवॉसी शैली की कथन-निगूढता को सुन्दरदास ने भली प्रकार समझा और समझाया है। चली आती हुई ऐसी अभिव्यक्ति में उन-उन रचनाकारो की भाषा-प्रयोग-क्षमता के साथ ही सुन्दर ने उनके प्रयोग-कौशल को और अधिक धारदार बनाया है। ऐसी वाणी को सुन्दरदास ने बिपर्ज्जय अथवा विपर्यय वाणी कहा है। इस विपर्यय वाणी (=उलटी बात) में सुन्दरदास ने, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से साधक-विचारक की मानसिक दशा अथवा ज्ञान-विरह के अनुभवों को, अपनी वक्र-वाणी मे, प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है। अपनी इसी विशेषता के कारण सन्त-साहित्य-परम्परा में

सुन्दरदास के उलटवॉसी पद अपना विशिष्ट स्थान रखते है। प्रतीक-चयन-क्षेत्र की दृष्टि से भी सुन्दरदास की उलटी बात-रचना, समूची वाणी-परम्परा में समृद्ध कही जा सकती है। कह सकते हैं कि समूची उलटवॉसी शैली परम्परा मे, सुन्दर कृत उलटवॉसी-रचना, उनकी प्रतिभा की स्वय पहचान है। यह सुन्दर का ही अभिव्यजना कौशल है कि वे ज्ञान-विरही की तीव्रतम एवं सूक्ष्मतम अनुभूति को भी, जो अब तक मौन की भाषा में अभिव्यंजित होती रही है, शब्द-बद्ध करने में समर्थ हुए हैं। ऐसी उलटी रचना मे, उलटेपन का परिहार, प्रतीक का अर्थ उद्घाटित होते ही, हो जाता है। सुन्दरदास की उलटी बात शैली को समझने के लिए प्रतीक-समझ-अनुभव को, नई कसौटी बनाना पड़ता है। एक साखी में उन्होने कहा है—

सुन्दर सब उलटी कही, समुझै संत सुजान।
और न जानै बापुरे, भरे बहुत अज्ञान॥ —साखी 50

अन्य जो भ्रान्ति में फॅसे हुए लोग हैं, वे वाणी की निगूढ़ता में छिपे मन्तव्य को कैसे जान पाएँगे? एक सवैया पद देखिए, जिसमें रचनाकार उलटा ख़याल को समझने के लिए अनुभवी होने की कसौटी-चुनौती देता हुआ कहता है—

कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी, सिंघहि षाइ अघानौं स्यार।
मछरी अग्नि मांहि सुख पायौ, जल मै हुती बहुत बेहाल॥
पंगु चढ्यौ पर्बत के ऊपर, मृतकहिं देषि डरानौ काल।
जाकौ अनुभव होइ सु जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥

—*सु सवैया.* 22/3

उक्त सवैया की व्याख्या, साधक के साधनाभ्यास एवं उसमें प्राप्त की गई मानसिक स्थिति से जुड़ी हुई है। साधनाभ्यास के उत्कर्ष काल में शुद्ध अन्त करण सात्विक बुद्धि वाला बन जाता है। वह अन्तर्मुखी मन-बुद्धि-चित्त और अहकार की वृत्तियों मे, बुद्धि की सात्विकता को लेकर अपने विचार-विवेक के द्वारा, जीवन्मुक्ति के भाव-विचारों का सम्पादन करने लग जाता है। वह कुंजर-कीडी, सिंह-स्यार, पंगु-पर्वत, मृतक और काल की विपरीतमुखी प्रतीकात्मकता को अपने अनुभव की भूमिका में परखता है। सवैया की अभिधा को देखा जाए तो, लोक में विरोध मूलक बड़ी विचित्रता और विसंगति दिखाई देती है। जिज्ञासा होती है कि यह कौन-सी चींटी है, जिसने गजराज को निगल लिया है? शृगाल, किस प्रकार शेर को खाने में सक्षम हो पाया है? यह कैसी मछली है, जो आग मे सुखानुभूति का अनुभव कर सकती है और वह आग भी कैसी है? पंगु, किस प्रकार पर्वत शिखर पर चढ़ने में सफल हो गया? यह कैसा मृतक है, जिसे देखकर काल भी भयभीत होने लगता है? इतनी प्रश्न या जिज्ञासाओं के बाद चौथी पंक्ति में जिज्ञासा-समाधान के कुछ संकेत मिलते हैं। रचनाकार कहता है कि इस विसंगत परिस्थिति को वही जान सकता है, जिसको ऐसा

अनुभव हो अथवा अनुभव कराया जाए—*'जाको अनुभव होइ सु जानै'*। निरन्तर विचार करते हुए जिज्ञासु, चेतना की सात्विकता मे पहुँच कर प्रतीक परिस्थिति की सूक्ष्मता का भेदन करते हुए, विचारक होकर सोचता है कि यह कुजर तो विषय प्रवृत्त अहंकारी मन हो सकता है, जिसे सूक्ष्म सात्विक बुद्धि रूप चींटी अपने अनुशासन मे ले सकती है। चेतना में ऐसा ही हुआ है। वैसी ही प्रबुद्ध चेतना मे चतुर-कुशल श्रृगाल, क्रोध रूप सिह को अपने वशीभूत कर सकता है अर्थात् विवेक, क्रोध को संयमित करता है। मछली रूप इन्द्रिय-प्रवृत्तियाँ, जो विषयाकर्पणो के जल में सुखानुभव करती थी, विवेक काल में, विचाराग्नि का संस्पर्श पाते ही, मायिक जल में असन्तोष का अनुभव करने लगती हैं। ऐसी अनुभूति में भौतिक सुख बेचैन करने लगते हैं। तब सात्विक ज्ञान की ऊष्मा, विचारक को आनन्द का अनुभव कराने लगती है। लोक-रूढ़ियों में आबद्ध मनुष्य की जो वृत्तियाँ (= शक्तियॉ) पगु बनी रहती हैं और मन अहंकार रूप पर्वत जैसे बोझ से दबा रहता है। विचार-काल मे सात्विक होते ही वह अहंकार रूप पर्वत को अपने अधीन कर लेता है। भ्रम में पड़ा हुआ, मृत्यु-भय से पीड़ित मनुष्य का मन निरन्तर भयभीत बना रहता है। किन्तु, मरजीवा होकर, जीवन्मुक्ति का अनुभव करते ही उसका सात्विक विवेकशील मन, रमता-राम के अनुभव में मृत्युंजयी होकर, अमृत भाव का अनुभव करने लगता है। ऐसे अमृत-मन से स्वय काल (= सीमित बोध) भयभीत होने लगता है। अर्थात् जीवन्मुक्त चेतना का कार्य-कलाप, काल की शक्तियों से सचालित न होकर, अकाल की प्राकृतिक सहज वृत्ति पर प्रतिष्ठित होने के कारण, स्वतः चलने लगता है। सुन्दरदास कहते हैं कि ऐसे गूढ़, उलटे जैसे लगने वाले मन्तव्यों को, वही विचारक जिज्ञासु समझ पाता है, जो अकाल में, काल की सीमाओं का अनुभव करके, विसगत-विरोधाभासो में निहित तत्त्वबोध को समझ लेता है। अविचार अथवा लोक-रूढ़ि में ऐसी वाणी (= कथन), विरोध गर्भित, असम्बद्ध एवं उलटी-सी लगती है। विचारवान् ऐसे विरोधाभास का परिहार करके असीम, समरस-चेतना में जीता है। ऐसी वैचारिक सूक्ष्मता का अनुभव, गुरु-भाव मे जीनेवाले को ही सम्भव होता है।

सुन्दरदास की वाणी का बहिरंग पक्ष—रचना मे अन्तरंग पक्ष की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, बहिरग पक्ष के कौशल पर बहुत कुछ निर्भर करती है। यदि बहिरंग पक्ष सक्षम या समर्थ नहीं होगा, तो काव्य के अंतरंग की मार्मिकता, बखूबी उभर कर सामने नहीं आ पाती। अन्तरग तत्त्वों मे जहॉ चिन्तन अर्थात् भाव-विचार प्रमुख रहता है, वहीं बहिरंग तत्त्वो मे रचनाकार द्वारा अपनाया गया काव्यरूप अर्थात् अलंकार-छन्द के प्रयोग-कौशल में प्रस्तुत करने की क्षमता, काव्य-भाषा आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अलंकार-छन्दादि अप्रस्तुत अर्थात् अलकारादि की योजना का उद्देश्य एव प्रतिपाद्य की भाव-विचार मार्मिकता को, प्रभावी ढंग से प्रस्तुत

करने में देखा जा सकता है। अलकरण, रचना के अर्थ-सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करता है। अलकरण की प्रवृत्ति, वाणी की सजावट एव भाव की सामर्थ्य को बढाती है। वाणी मे बोझ बनकर आने पर कोई भी अलंकार, अपनी मूल चेतना को दवा भी सकता है। सुन्दरदास मूलतः सन्त रचनाकार थे। इसीलिए वे अन्य रीति-कवियो की तरह वाणी के अलंकरण पर अधिक ज़ोर नही देते। जो परम्परित अलकार काव्य-रचना की प्रकृति में घुल-मिल सके हैं, उन्हीं का प्रयोग सुन्दर-वाणी मे देखने को मिलता है। अलकारो में भी अर्थालकारों से अधिक, शब्दालंकारो का प्रयोग-कौशल, सुन्दर-वाणी में सहज ही देखने को मिल जाता है। कारण स्पष्ट है कि सुन्दरदास भाषा के पण्डित थे। इसीलिए उनकी वाणी में अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति आदि अलंकारो का सहज प्रयोग देखा जा सकता है। यह तो सर्वथा निश्चित है कि सुन्दर की काव्य-रचना का दौर, घोर रीतिकालीन वातावरण में हुआ था, जब भावों के साथ-साथ भाषा के अलंकरण पर, भाषा के शृंगार पर, रचनाकार का विशेष ध्यान रहता था। और शायद यही कारण रहा कि सुन्दरदास जहाँ रीतिकाल के शृगारवाद का प्रतिरोध करते है, वहॉ भाषा-अलंकरण का विरोध नहीं करते। यही नहीं, उन्होने अलकरण की एक प्रवृत्ति चित्रकाव्य-रचना पर, अपना कौशल दिखाया है। सुन्दर ने *चित्रकाव्य* की सम्यक् रचना की है। यहॉ सुन्दर-वाणी के कुछ अलंकारो के उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनमें कलापक्ष का आग्रह नहीं है। पर, भाषा की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही, कथन को प्रभावी बनाती देखी जा सकती है। कुछ उदाहरण देखिए—

श्लेष— नारी पुरुष सनेह अति, देषैं जीवै सोइ।
सुन्दर नारी बीछुरै, आप मृतक तब होइ ॥

यहाँ नारी के दो अर्थ हैं—स्त्री तथा हाथ की नाड़ी (= नब्ज़)। यह श्लेष का सुन्दर-उदाहरण है।

यमक— भई हौं अति बावरी बिरह घेरी बावरी,
चलत ऊंचौ बावरी परौंगी जाइ बावरी।
फिरत हौं उतावरी लगत नही तावरी,
सु वाही कौं बताव री चल्यौ है जात ताव री ॥

यहाँ *बावरी* (= बावली, दिवानी), *बाव* (= वात वेग), *बाव री* (= हवा, पवन), *बावरी* (= बावडी), *उतावरी* (= जल्दबाज़ी, उतावली), *तावरी* (= धूप, तीव्रता), *ताव री* (= ताव, यौवन का जोश), *बताव री* (= बता दे) आदि शब्दों के अर्थ अलग-अलग होने में यमक है।

रूपक— देह सराव तेल पुनि मारुत बाती अंतःकरण बिचार।
प्रकट जोति यह चेतनि दीसै जातैं भयौ सकल उजियार ॥

यहाँ उपमेय और उपमान रूप देह-सराव (= शरीर रूप सकोरे में), तेल-मारुत

(= प्राण रूप तेल), बाती—अन्त करण (= बत्ती रूप अन्त करण) मे रूपक, सागरूपक है।

उत्प्रेक्षा— कामिनी की देह मानौ कहिये सघन बन,
जहाँ कोऊ जाइ सु तौ भूलि कै परतु हैं।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामें
बेनी काली नागनी ऊ फन कौं धरतु है ॥

यहाँ कल्पना के बल पर, *कमिनी की देह* में, *सघन बन* की सभावना की गई है। *मानो* आदि वाचक शब्दों द्वारा सभावना सकल्पित है।

दृष्टान्त— रवि समान परमातमा, दर्प्पन बुद्धिहि जानि।
तामहि प्रतिबिंबित भयौ, जीवातम पहिचांनि ॥

यहाँ *रवि-परमात्मा* (= उपमेय-उपमान), बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में एक-दूसरे से जुड़े हुए है।

विभावना— श्रवन बिना धुनि सुनय नैन रूप निहारय।
रसन बिना उच्चरय, प्रशंसा बहु विस्तारय ॥

यहाँ *श्रवण* (- कारण), *रसन* (- कारण), *नैन* (- कारण) के बिना सुनना-देखना-उच्चारण (- कार्य) की सिद्धि होने मे ही विभावना है।

सुन्दर-वाणी मे छन्द-विधान के शास्त्रीय स्वरूप की पूरी गरिमा एवं प्रयोग-कौशल-अभ्यास प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। सुन्दरदास पिगलशास्त्र के अच्छे ज्ञाता एवं कुशल प्रयोक्ता थे। सुन्दर-वाणी में साखी-दोहा छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुए है। छन्द की दृष्टि से इनके साखी-दोहे पूर्णतः निर्दोष हैं। यही बात, अन्य छन्दों के प्रयोगों के विषय में भी कही जा सकती है। सुन्दरदास छन्द-भंग-दोष को कभी स्वीकार नही करते थे। छन्दशास्त्र के एक आचार्य की तरह, उनका छन्द-प्रयोक्ताओ को खुला निर्देश रहा है कि काव्य-रचना में तभी प्रवृत्त होना चाहिए, जब छन्द-विधान का पूरा ज्ञान हो। तुक-छन्द-अर्थ की संगीत न रहने पर, रचनाकार का अक्षम्य दोप माना जाएगा। इसलिए वे कहते हैं—

जोरियेऊ तब जब जोरिवौऊ जांनि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिये।
× × ×
तुक भंग छंद भंग अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बांनी नहिं कहिये ॥

सुन्दरदास को मात्रा-गणादि का पूरा ज्ञान और अभ्यास था। उनके छन्द-प्रयोग-कौशल की सर्वथा प्रशसा हुई है—*गाहा गीत कवित्त छंद पिगल परवानैं। सुन्दर स्यौ सुगम काव्य कोई कला न छानैं ॥*

अत कह सकते है कि छन्द-शास्त्र पारगत सुन्दरदास की रचनाओ मे, वर्णिक एव मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का समान-अधिकार के साथ प्रयोग देखने को मिलता है। *ज्ञान-समुद्र* काव्य ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उन्होने लिखा है कि जितने प्रकार की छन्द-जातियॉ है, उन सबका प्रयोग उन्होने *ज्ञान-समुद्र* ग्रन्थ मे उसी प्रकार किया है, जैसे सागर में सीपों की स्थिति शोभायमान रहती है। सीपियो के समान ये छन्द, अर्थरूप मोतियों से भरपूर हैं। देखिए–

जाति जिती सब छदनि की, बहु सीप भई इहि सागर माहीं।
है तिन मैं मुक्ताफल अर्थ लहैं उनकौ हित सौ अवगाहीं ॥

ज्ञान-समुद्र रचना में प्रयुक्त छन्दों का नामोल्लेख यहॉ आवश्यक है। ये है–दोहा, सोरठा, चौपई, इन्दव-सवैया, चौपइया, छप्पय, त्रोटक, मनहर, रोड़ा, पवंगम, नन्दा, अर्धभुजगी, पद्धडी, दोधक, गीतक, कुण्डलिया, मालती, चम्पक, गीता/[-चामर] मोतीदाम, लीला, हंसाल, डुमिला, कुण्डली, रासा, नराय, रगिक्का, विज्जुमाला, चन्दाणां, हरसंषाणा, चर्पट, पायक्का और त्रिभगी। ये कुल 34 प्रकार के छन्द हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्दों के नाम हैं–अर्ध सवैया, नीसांनी, भुजंग प्रयात, मोहिनी, चामर, झूलना, रुचिरा, अडिल्ला, मडिल्ला और बरवै। वर्णिक गण छन्द-वृत्तों मे इन्दव (= मत्त गयंद), दुर्मिल, किरीट तथा वर्णिक मुक्तकों में मनहर (= कवित्त) और रूपघनाक्षरी छन्द हैं। मात्रिक सम छन्दों में वीर, समान सवैया (= केतकी) और हंसाल हैं और विषम मात्रिक छन्दों मे कुण्डलिया का प्रयोग सन्दर-वाणी में सर्वत्र देखा जा सकता है। सुन्दरदास ने अपने काव्यों में सर्वाधिक प्रयोग *इन्दव* (= मत्तगयन्द) सवैया का किया है। सच तो यह कि सवैया छन्द-रचना में वे सिद्धहस्त थे। छन्द-रचना की दृष्टि से रीतिकाल के कवियों में उनका स्थान इस प्रकार निर्धारित किया गया है–

"सवैया छन्द स्वामी सुन्दरदास जी को बहुत प्रिय था। सवैया के बनाने में वे सिद्धहस्त थे। जैसे सूर का पद, तुलसी की चौपाई, नाभादास का छप्पय, केशव का कवित्त, गिरधर की कुण्डलियाँ, बिहारी का दोहा हैं, वैसे ही सुन्दर का सवैया समझना चाहिए। यह सवैया इन्दव है, जिसे मत्तगयन्द भी कहते हैं, जो सुन्दरदास जी की अतिविशिष्ट रचना है।"–पुराहित हरिनारायण शर्मा, *सुं. ग्रं. 1* (भूमिका, पृ. 91)

भाषा-सामर्थ्य

जैसा कि बताया जा चुका है कि सुन्दरदास की शिक्षा-दीक्षा, संस्कृत-भाषा-साहित्य के गढ़ कहे जानेवाले काशी नगर में हुई थी। वहीं रहकर उन्होंने व्याकरण, दर्शन, भाषा के रीति-ग्रन्थों तथा काव्य एवं दर्शन की विविध परम्पराओ एवं लोक-व्यवहार का सम्यक् अध्ययन-मनन किया था। इस अध्ययन का प्रभाव उनके सभी ग्रन्थों की

रचना-धर्मिता मे देखने को मिलता है। अत सन्त-काव्य-रचयिता अन्य रचनाकारो मे—नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रज्जव, मलूकदास, हरिदास निरजनी, मीराबाई आदि से उनकी वाणी का स्वभाव और स्वरूप भिन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। जीवन भर अर्थात् अध्ययन-मनन और लेखन की इतनी लम्बी कालावधि ने उन्हे भाषा-परिपक्वता और छन्द-रचना मे सिद्धहस्तता प्रदान की है। जिस भापा-शब्द-समूह से उन्होने अपने भाषा-छन्दों को सँभारा है और उसमें अर्थतत्त्व को, मुक्ताफल (= मोती, मोक्ष) की तरह, लक्षित बनाए रखा है, यही सब एक जागरूक लेखक की ही पहचान है। साथ ही वे पाठक को अपने वाणी-सागर में अवगाहन की प्रेरणा भी देते रहे हैं—

है तिन मै मुक्ताफल अर्थ लहै उनकौ, हित सौं अवगाही।

यहाँ सुन्दरदास द्वारा प्रयुक्त भाषा के स्रोतो पर विचार करना आवश्यक है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व, राजस्थानी भाषा-बोली के संस्कारों ने सुन्दर के बचपन को गढ़ा था। युवावस्था में पहुँचते-पहुँचते, काशी जैसे संस्कृत और संस्कृति प्रधान नगरों मे उनकी काव्य-चेतना जागृत हुई थी और विचारों मे परिपक्वता आई। वहॉ रहकर विद्वानों के सम्पर्क-सत्संग एवं काव्य-दर्शन ग्रन्थो के पारायण ने उनकी प्रतिभा को और धारदार बनाया है। अतः जो भाषा उनकी रचनाओ में देखने को मिलती है, वह उनके वैचारिक जीवन के विकास का स्वाभाविक परिणाम है। जो रचनाकार छन्द-भंग, तुक-भंग तक को सहन न कर सकता हो, वाणी-उच्चारण में वचन-तोल के महत्त्व को प्रतिपादित करता हो, उसकी वाणी का विचार-पक्ष एव भाषा-प्रयोग निश्चित ही सुविचारित होना चाहिए। यही नही, अपने वाणी-प्रयोग के सम्बन्ध में अपने वचन विवेक कौ अंग मे सुन्दर ने भाषा-प्रयोग पर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में एक आचार्य की तरह वे कहते हैं कि शब्द के दुष्ट-प्रयोग से श्रोता के हृदय मे बड़ी पीड़ा, बड़ा खेद होता है। अतः ऐसे प्रयोग नहीं करने चाहिए। तो दूसरी ओर वे विचारों के उलझाव और सुलझाव का कारण, वचन-भाषा को ही मानते है। देखिए—

सुन्दर समुझि कैं बचन कौं उचार करि,
नाहीं तर चुप ह्वै पकरि बैठि मौंन को।

अथवा—

सब ही कौं लागै दुख कोऊ नहिं पावै सुख,
बोलि कैं वृथा ही तातें छाती नहिं छोलिये।

अथवा—

बचन तै उरझि सु सुरझै बचन हीं तैं,
बचन तै भाति भांति सकट सहतु है।

बचन तै जीव भयौ बचन तै ब्रह्म होइ,
सुन्दर बचन भेद बेद यौं कहतु है ॥

भाषा-प्रयोग सम्बन्धी सुन्दरदास की ऐसी दृष्टि, जीवन भर के परिवेश-संस्कारों एव अध्ययन-मनन से अर्जित भापा-पूँजी के बल पर ही बनी है। साथ ही देशाटन ने इस पूँजी को और अधिक समृद्ध किया है। लगता है कि उनकी मनीषा में इतना बड़ा भाषा-शब्द-कोश रहा है कि रचना करते समय शब्द स्वय सुनियोजित होकर उनकी लेखनी के सामने लाचार-से होकर आते रहे होगे। सुन्दर-वाणी को देख-पढ़कर यही स्पष्ट राय बनती है कि सुन्दरदास के भाषा-प्रयोग मे क्षेत्रीयता की सीमाएँ नही है। जैसे कि जायसी में अवधी, सूरदास में ब्रजभाषा, नानक में पजाबी तथा कबीर मे पूरबी बोली की सीमा बताई गई है। सुन्दरदास ने उन सीमाओं को अपनी भाषा-प्रयोग क्षमता से तोड़ा है। प्रस्तुत उदाहरण से उनके भाषिक प्रयोग-मन्तव्य को भली प्रकार समझा जा सकता है। देखिए—

केचित् कहैं संस्कृत बानी। कठिन श्लोक सुनावहिं जांनी ॥
केचित् तर्कत शास्तर पाठी। कौशल विद्या पकरत काठी ॥
केचित् वाद बिबिध मत जानैं। पढ़ि व्याकरण चातुरी ठानैं ॥
केचित् कविता कबित सुनावैं। कुंडलिया अरु अरिल बनावैं ॥
केचित् छन्द सवैया जोरैं। जहॉ तहॉ के अक्षर चोरैं ॥
केचित् बीणा बेणु बदीता। ताल मृदंग सहित संगीता ॥
केचित् नट की कला दिखावैं। हस्त बिनोद मधुर रस गावैं ॥

—*सर्वांग. प्रदी*, उप. 1/25-28

उक्त विधाओं-कलाओं में आख़िर किसी-न-किसी भाषा का उपयोग-प्रयोग होता ही होगा। इन सभी के बीच तत्कालीन साहित्य-शास्त्र और कला के उत्कर्ष-काल में, सुन्दरदास ने अपनी भाषा-अभिव्यक्ति को निर्धारित किया है। उनकी रचनाओं में भाषा-प्रयोग एवं उसका विचार-पक्ष सुविचारित रूप में ग्राह्य बनता रहा है। सुन्दर-वाणी की भाषा, तत्कालीन समाज मे व्यवहृत सामान्य व्यवहार की साधु (= सादु) भाषा है। इस भाषा की बनावट और बुनावट, भाषा-छन्द की परिधि मे ही देखी जा सकती है। कबीर-नानक-दादू-रज्जब-मीरा आदि सन्त रचनाकारो द्वारा व्यवहृत शब्दावली, उनकी लोक-भाषा परिधि में आती है। किन्तु, सुन्दरदास की भाषा इन सभी रचनाकारों के व्यापक परिप्रेक्ष्य को समेटती दिखाई देती है। वह परम्परा और व्यवहार के बड़े दायरे को घेरे हुए, कुछ अधिक समर्थ, कुछ अधिक सांस्कृतिक, कुछ अधिक दावेदार लगती है। भाषा-प्रयोग में सुन्दरदास की भाषा का यदि कोई आदर्श माना जा सकता है, तो वह तुलसीदास की भाषा ही है।

सुन्दरदास की ब्रजभाषा—अपनी साहित्यिक-सास्कृतिक गरिमा के कारण ही ब्रज बोली, जो मथुरा, अलीगढ, एटा, आगरा, धौलपुर, भरतपुर, कांकरौली आदि क्षेत्रों में बोली जाती रही होगी, अपने व्यापक प्रभाव-क्षेत्र के कारण साहित्यिक ब्रजभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है। भापा की क्षमताओं को आधार बनाकर जब हम सुन्दरदास की अभिव्यक्ति वाली टकसाली ब्रजभाषा की परख करते हैं, तो लगता है कि शताब्दियो से प्रयोग मे आने के कारण यह भाषा, निरन्तर परिमार्जित होते हुए ही, काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई है। सुन्दरदास ने अपने प्राणों की साधना से, इस भाषा को और अधिक सशक्त रचना-माध्यम बनाकर, लोक-व्यवहार में उतारा है।

सुन्दर-वाणी को पढ़ते-पढ़ाते हुए निरन्तर यह लगता रहा है कि विषयानुसार कोमलकान्त पदावली की सानुप्रासिकता के साथ-साथ जो प्रवाहमयता, चित्रोपमता एवं मनोभावो को सहज ही मुखर कर पाने की सामर्थ्य सुन्दर की भाषा मे विद्यमान है, वही इसकी निजता की शक्ति भी है। अभिव्यक्ति में तद्भव और तत्सम शब्दावली के कारण, सुन्दरदास की काव्यभाषा समस्त उत्तर भारत की ही नहीं, विध्याचल के नीचे भी, साधु-भाषा के रूप में अपनाई जाती रही है। सुन्दर-वाणी मे प्रयुक्त विपुल शब्द-भण्डार, उनके कविरूप की प्रतिभा और क्षमता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वाक्य-विधान में निहित शब्द-शक्ति, व्यंजना-व्यापार, शब्दो की ध्वन्यात्मकता तथा प्रयुक्त मुहावरे-लोकोक्तियाँ, जहाँ आंचलिक क्षमताओं को उजागर करती है, वही युगों से संचित लोक रीति-नीतियों को, सामासिकता में शब्द-बद्ध करके, युगो के लिए भाषा-धरोहर के रूप मे, सँजोती भी रही है।

सुन्दर-वाणी की भाषा-सामर्थ्य पर विचार करते हुए थोड़ा और विश्लेषण करें तो हमें लगता है कि सुन्दर-वाणी में, गूढ़ार्थ विधाओं को छोड़कर, अन्यत्र कहीं भी भाषिक कष्ट-कल्पना देखने को नही मिलती। इसका मुख्य कारण यह है कि सुन्दरदास शब्दों को तोड़-मरोड़कर शब्दाडम्बर से पाठक को आतकित करने के पक्षपाती नहीं रहे। उनका भाषा-पाण्डित्य, लोक-व्यवहार की शब्दावली एवं स्थानीय बोलियों के शब्दों के प्रयोग के कारण ही दिखाई देता है। सुन्दर रचित भाषा की यही शक्ति है। वास्तव में सुन्दर-भाषा के नियामक तत्त्वों का संगठन, देशाटन अथवा सत्संग-गोष्ठियों मे होनेवाले निरन्तर संवाद का परिणाम है। देशाटन में उनका सम्पर्क मुसलमान सूफी-फक़ीरों, नवाबों अथवा उनके नुमाइन्दों से अवश्य होता रहा होगा। फलतः अरबी-फारसी की शब्दावली का निःसंकोच प्रयोग, सम्प्रेषण के लिए आवश्यक बना रहा है। यही नहीं, वैसी अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर ने उर्दू शब्दावली वाली विधाओं को अपना कर, अपनी भाषिक-क्षमता को ही प्रस्तुत किया है। काशी में रहकर पूरबी भाषा, राजस्थान में जन्म-सस्कार तथा गुजराती समाज से निकट सम्पर्क एवं पंजाब के सीमान्त प्रदेशो मे भ्रमण-सत्संग के परिणामस्वरूप ही इन-इन

क्षेत्रो की भापा-बोलियॉ की शब्दावली, उनके वाक्य-विन्यास, यहॉ तक कि उनके क्रिया-पदों को अपना कर, सुन्दरदास ने जिस भाषा-स्वरूप को प्रस्तुत किया था, वह भाषा-जाति का मूलाधार बनने मे समर्थ है। सच तो यह है कि सुन्दर की भाषा-रुचि बड़ी व्यापक पृष्ठभूमि पर विकसित हुई है। समूचे मध्यकाल और मध्यकाल के पूर्व भी, ब्राह्मण-प्रभाव के कारण, संस्कृत-भाषा का वर्चस्व बना रहा है। इससे भारतीय समाज की जन-भाषाओ की उपेक्षा होना स्वाभाविक ही था। सन्त-काव्य के समूचे सृजन-काल मे, भारतीय समाज कर्मकाण्ड और धार्मिक रूढ़ियो की जकड़बन्दी मे फॅसा रहा है। भाषा-कवियो ने उस बहुत बड़े समाज की घुटन को समझा है। यही कारण है कि सन्त कवियो ने जन-मानस की सह-अनुभूति से प्रेरित होकर, जन के अन्तबार्ह्य भावन और सघर्ष को जो भाषा दी है, जीवन को जो सार्थकता अथवा सरोकार दिया है, वह अप्रतिम है। ऐसी भाषाभिव्यक्ति, साहित्य के इतिहास में, इनसे पहले देखने को नही मिलती। भाषा-प्रयोग में सन्त सुन्दरदास का, जन-हृदय तक पहुॅचना ही लक्ष्य रहा है। इसीलिए उनके भाषा-काव्यो का स्वरूप, व्यापक जन-चेतना से जुडा रहने के कारण ही, आज भी सार्थक बना हुआ है। अतः ऐसी जन-चेतना वाली भाषा मे रचित वाणी-काव्यो की भाषा को पंचमेल खिचडी, सधुक्कड़ी अथवा बनारसी बोली की सीमाओं मे बाँधना अथवा हीनभाव से देखना, भाषा-काव्यों की सामर्थ्य के निष्कर्षो की अवहेलना करना ही है। जो भाषा की शक्ति है, उसे ही उसकी कमज़ोरी कहना कहॉ तक उचित है? कबीरादि सन्तों के समान ही सुन्दरदास का वाणी-आदर्श, लोकादर्श से जुड़ा रहा है। उनकी सृजन-शक्ति धरती में निहित ऊर्जा से जुड़ी रही है। धरती की खुशहाली और हरियाली से जुडकर ही यह भाषा, भूमि से अपने जुडाव सिद्ध करके ही देश-भाषा (देसभाखा, देसिल बयना) कही गई है। इसी अर्थ मे यह भाषा-भाव-धारा सबका हित करनेवाली सुरसरि है। मेघों के घिरने और बरस पड़ने के कारण यह वाणी-वर्षा भी है। इसी बात को सन्त अनुभवानन्द ने अपने पदों में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है—

> अनुभव जल बड़ी बूंदन बरसत, अनुभव जल बडी बूँदन।
> ज्ञान घटा चहुँ दिसि चढि आई पूरि रह्यौ सब चित घन ॥

अथवा—

> बरसत अनुभव उमग्यौ सावन।
> जल थल होय रह्यौ सब दरिया, लागे खेत सोहावन ॥

—*गुज. सं. हि बा*, पद 7-8

सन्तों की यही जन-भाषा, अपनी आन्तरिक ऊर्जा के बल पर, देश-भाषा के रूप मे राष्ट्रभाषा का दायित्व सॅभालती रही है। इसी बात को एक सन्त रचनाकार सन्तदास ने भी अपने परिवेश के सगुण समाज के साथ, स्वानुभूत निर्गुण विचार के

बीच, अपनी वाणी-भाषा को दलाल (= सेतु) के रूप मे प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि सस्कृत भाषा के जानकार-पण्डित होने के बाद भी, सुन्दरदास ने भी अपने कथ्य का माध्यम जन-भाषा को बनाया है। वे जानते थे कि लोकहित में यही भापा, मामूली आदमी को भी काव्य रस का अनुभवी-अधिकारी बना सकती है। इसीलिए उन्होने मामूली आदमी के, मामली अनुभवों को भी, लोक-मुहावरे से जोडकर, अपने कृतित्व के द्वारा, जन-भाषा को ही वैशिष्ट्य प्रदान किया है।

षड्भाषा-विचार : कहा जाता है कि–'*मारग आये दश दिशा, पहुँचे एकहि गॉव,* इस कथन-लक्ष्य को सुन्दरदास की भाषा बखूबी निभाती रही है। भाषा-प्रयोग मे सुन्दरदास अपने परिवेश के सभी स्रोतों से शब्द-संचयन करते रहे है। अत· कह सकते है कि सुन्दरदास ने *षड्भाषा सिद्धान्त,* जो मध्यकाल के जन-कवियो का सर्वस्वीकृत भाषा-सिद्धान्त था, को भाषा-व्यवहार के लिए अपनाया है। इस भाषा-सिद्धान्त की पूरी सामर्थ्य का उल्लेख, आचार्य भिखारीदास ने अपने *काव्य-निर्णय ग्रन्थ* के एक दोहे मे इस प्रकार किया है–

> ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यमन भाखानि।
> सहज पारसीहू मिलै, षट विधि कहत बखानि ॥

उक्त षड्भाषा कोई मिश्रित अथवा खिचडी भाषा नही है। अपितु, मध्यकाल में व्यवहृत काव्य-भाषा का नाम है। यहॉ छ· भाषाओं का अर्थ केवल छः भाषाएँ ही नहीं हैं। यह तो प्रयुक्त भाषा का समवेत स्वरूप है। ऐसी भाषा प्रकृति में ही सुन्दर-काव्यों की भाषा का स्वरूप निधारित हुआ है। उनकी रचनाओ मे टकसाली ब्रजभाषा के साथ ही अवधी-भोजपुरी मिश्रित पूरबी भाषा, पश्चिमी पजाबी भाषा, अरबी-फ़ारसी-उर्दू एवं खड़ीबोली आदि भाषाओं की शब्दावली तथा गुजराती, राजस्थानी बोलियों की शब्द-सम्पदा और अन्त में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश भाषाओं के स्रोत जुड़ते रहे हैं। इन सभी स्रोतों से संपन्न हुई सुन्दरदास की भाषा अपने आप में इतनी प्रभावशाली होकर सामने आई है।

कुल मिलाकर पण्डित कवि सन्त सुन्दरदास की काव्य-भाषा की प्रभविष्णुता का मूलाधार खोजा जाए, तो निश्चित ही उसमें अनुस्यूत लोक-भाषा के तत्त्व ही होंगे। सुन्दर-वाणी में प्रयुक्त मुहावरे, लोकोक्तियॉ, सूक्तियॉ, किवदन्तियॉ अथवा अन्तर्कथाएँ, जो दृष्टान्त बनकर उस में पिरोई हुई हैं, उनकी भाषा सामर्थ्य के आधार हैं। इन्हे परिवेश के साथ समझने की आवश्यकता है। वास्तव में मुहावरे-लोकोक्तियाँ भाषा की ग्राहिका-शक्ति को बढ़ाती हैं। इनके प्रयोग से अर्थ-व्यंजना का निरन्तर विकास होता रहता है। लोकोक्ति-सूक्तियों के प्रयोग से, भाषा की सूत्र-शैली के साथ उसकी सामासिक क्षमता भी बढती है। क्योकि लोकाचरण के विधि-निषेध उनमे सूत्र-बद्ध होकर जीवन्त बने रहते हैं। कुछ लोकोक्तियॉ तो भाषा का अलंकरण

बनकर, कवि की पहचान को, जन-हृदय में अमिट छाप के साथ, जीवत बनाए रखती हैं। भाषा के इन लोक-तत्त्वों का इस्तेमाल सुन्दर-वाणी मे बखूबी देखने को मिलता है। इसी से सुन्दर-वाणी का भाषा-सौन्दर्य, लोक-हृदय के साथ ही कवि-समीक्षको को भी आकर्षित करता रहा है। उदाहरण के लिए एक छन्द यहॉ प्रस्तुत है, जिसे पढकर स्वयं अनुमान लगाया जा सकता है कि सुन्दरदास में, मुहावरे-लोकोक्तियों के प्रयोग की कितनी क्षमता थी। देखिए—

बालु मांहिं तेल नहिं निकसत काहू विधि,
    पाथर न भींजै बहु बरसत घन है।
पानी के मथे तें कहुँ घीव नहिं पाइयत,
    कूकस के कूटे नहिं निकसत कन है॥
शून्य कू मूठी भरे तें हाथ न परत कछु,
    ऊसर के बाहें कहा उपजत अन है।
उपदेश औषध कवन विधि लागै ताहि,
    सुन्दर असाध्य रोग भयौ जाके तन है॥ —*सवैया* उपदेश. 2/8

मुहावरात्मक भाषा-प्रयोग ही नहीं, शब्द-प्रयोग में व्यंजक क्षमता भरने की अद्भुत सामर्थ्य थी सुन्दरदास में। लोकानुभव से निरन्तर जुड़े रहने के कारण, शब्द-प्रयोग की उनकी अद्भुत क्षमता, लोक-आचरण के सूक्ष्म अन्वीक्षण की भी सूचना देती है। उदाहरण के लिए—*सूरज के आगैं जैसैं जैंगणा दिखाइए,* अथवा *जितनी सौर पॉंव तितने पसारिए* या *कूकर की पूँछ सूधी होत नहिं कबहूँ* आदि प्रयोग, उनके परिवेश एवं सन्दर्भ को सही रूप में उजागर करते है। एक और उदाहरण देखिए, जिसमें अज्ञान अथवा मानसिक दारिद्रय को, तुरकी घोड़ों के बीच टटुआ घोड़े के उदाहरण द्वारा, सूरज को दीपक दिखानेवाली स्थिति को, भली प्रकार अभिव्यंजित किया गया है—

सुन्दर घर ताजी बंधे, तुरकिन की घुरसाल।
ताके आगैं आइ कें, टटुवा फेरै बाल॥

—*सुं साखी.* 17/17

चार

समाहार

सन्त-काव्य-परम्परा के इतिहास मे सुन्दरदास, पूरी सन्त-काव्य-धारा के भक्त-रचनाकारों का सम्मान करते हुए भी, अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व की दृष्टि से अद्वितीय रचनाकार कहे जाते रहे हैं। यही नहीं, अपने विशेष आचरण और रचना-धर्म के कारण सुन्दरदास दादू-शिष्य-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते है। सर्व प्रथम ये बाल ब्रह्मचारी होने के साथ ही, बाल कवि के रूप में उभरे थे। *सुन्दरदास* (संवत् 1653-1746 वि.) ने अपना युवाकाल (संवत् 1662-1682 वि.), धर्म-सस्कृति की नगरी काशी में, साहित्य-व्याकरण, काव्यशास्त्र, धर्म-दर्शन, विशेषतः सांख्य-योग-वेदान्त के ग्रन्थों को पढते हुए, कथा-प्रवचन सुनते अथवा सत्संग-संवाद करते हुए, चित्त-वृत्ति निरोध के साथ, ज्ञान के असीम स्रोतो से जुड़कर, अपना विद्यार्थी जीवन, कर्मशील बने रहकर, समृद्ध किया था। उनके इस अर्जन का प्रभाव उनकी रचनाओं में सर्वत्र मुखर दिखाई देता है। इनकी समस्त रचनाएँ, बडे सुनियोजित ढंग से, सुव्यवस्थित रूप में, *सुन्दर ग्रन्थावली,* भाग 1-2 में प्रकाशित हो चुकी है।

सुन्दरदास पर लिखे गए प्रस्तुत सीमित विनिबन्ध के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उनके जीवन, परिवार, शिक्षा-दीक्षा, साधनाभ्यास, समकालीनों से सम्पर्क उजागर किया गया है। यहाँ उनकी सभी रचनाओ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए, उनके समकालीनों एव बाद के समीक्षकों की दृष्टि से, सुन्दरदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को रेखांकित करते हुए, लेखक ने युगीन साहित्यिक-सामाजिक परिस्थितियों को उभारा है। भारतीय साहित्य-संस्कृति के निर्माताओं मे सुन्दरदास के योगदान में उनकी रचनाओं का, भारतीय जन-समाज पर पड़नेवाले प्रभाव का सम्यक् आकलन किया गया है। उनकी वाणी के तत्कालीन एवं समकालीन समाज के लिए उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए, उनकी रचनाओं का मूल सन्देश एवं उनकी भाषा में जन-आकांक्षाओं के प्रतिबिम्ब का विवेचन करना लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। यह निश्चित है कि सुन्दरदास ने वाणी-रचना के द्वारा अपने अनुभव मे आए साधना-सत्य को, जन-मानस तक पहुँचाने का लक्ष्य साधा है। अर्थात् काव्य-रचना उनके लिए साधन रहा है। साध्य तो केन्द्रीय तत्त्व *हरि* (= व्यापक सत्य, वर्तमान सत्य-सत्ता, प्रभु, ब्रह्म, निरंजन राम) की अनुभूति और उसका गुणगान रहा है। वे

कहते हैं · *'एकहि ब्रह्म रह्यौ भरपूरि, तो दूसर कौन बताउ, निहारो'* अथवा *'कहि सुन्दर हरि जस जीव है, हरि जस बिन मृतकहि तथा।'*

सन्त-हृदय सुन्दरदास ने अनुभव में आई ऐसी आनन्दानुभूति की कसौटी, काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त को मानना, समीचीन नहीं कहा जा सकता। ऐसी ब्रह्मानन्दमयी अनुभूति, जो समूचे जीवन का काया कल्प करने में समर्थ होती है, को काव्य-शास्त्रीय सीमा में बॉध पाना न तो सम्भव है और न रचनाकार के लिए न्यायसगत ही। इस सन्दर्भ में रचनाकार के द्वारा भावित *आनन्द* की एक हिलोर का अनुभव, पाठकों को अपने समरस चित्त की भूमिका में करना चाहिए। उस अनुभव को वाणी-भाषा में बाँधते हुए, रचनाकार स्वय संकोच का अनुभव करता रहा है। यहॉ एक उदाहरण की पुनरावृत्ति फिर करना चाहता हूॅ—

होत बिनोद जु तौ अभिअन्तर सो सुख आपु मैं आपु ही पइये।
बाहिर कौं उमग्यौ पुनि आवत, कंठ तें सुन्दर फेरि पठइये ॥
स्वाद निवेरें निवेर्‌यौ न जात मनौं गुर गूंगेहि ज्यौं नित षइये।
क्या कहिये कहतें न बनैं कछु, जो कहिये कहतें ही लजइये ॥

—*सवैया*, आत्मानुभव. 28/3

सुन्दरदास की वाणी का भाव-सौन्दर्य, लौकिक प्रेमरस की गहराइयों से जुडा रहा है। परा ज्ञानमयी ऐसी रसानुभूति, अनासक्त मानसिकता में उदित होकर, आत्मभाव की अनुभूति ही तो होती है, जो अभिव्यक्ति के लिए छटपटाती रहती है, जिसमें देश-धर्म-जाति की सीमाऍं उपशमित हो जाती हैं। सुन्दर की ऐसी मानसिकता ही तो, रीतियुगीन शृंगारपरकता अथवा रस राजत्व की प्रतिबद्धता को, वैचारिक प्रतिरोध दे सकती थी।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से सुन्दर की रचना, अपने युग की सभी रीतियों, विधाओं से परिचित होते हुए भी, सन्त-काव्य के जीवनपरक मूल सन्देश को सर्वोपरि मान कर, जनहृदय में सदाशयता के भावों को जगाने में सक्षम बनी रही है। पर, ऐसी भाव-भूमिका के निरूपण में भी सुन्दर का कवि, दार्शनिक का विचार-पक्ष रखने में कहीं चूका नहीं है।

सुन्दर-वाणी के भाव-सौन्दर्य को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए, उनकी भाषा और छन्द ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भाषा में भी शब्द-चयन के विविध स्रोत एवं भाषा का व्याकरण सम्मत होने से भी वाणी की प्रभावान्विति निरन्तर सक्षम बनी रही है। भाषा-प्रयोग में, ब्रजभाषा के स्वरूप को अधिकाधिक धारदार बनाने में सूक्तियों-लोकोक्तियों एवं मुहावरों ने बहुत बड़ा काम किया है। इसमे भी उलटवाँसी पदों के लिए सुन्दरदास ने, *विपर्ज्जय कौं अंग* लिखने का अवकाश निकाल ही लिया है। विरोधात्मक प्रतीकों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने लोक-रूढ़ियों, विसगतियों पर

करारा व्यंग्य किया गया है। सुन्दरदास की वाणी में प्रयुक्त छन्द तो, उनके छन्द, रचना-कौशल को प्रस्तुत करने मे सक्षम रहे हैं। सवैया-छन्द-रचना में तो वे रीतिकालीन अग्रणी कवियो में प्रतिष्ठित है।

समाज-सन्दर्भ मे सुन्दर-वाणी का मूल्याकन अभी तक प्रायः नही के बराबर हुआ है। कोई भी विचारक-कवि-रचनाकर समाज-सन्दर्भो से कटकर कैसे रह सकता है? इस सन्दर्भ में सन्त कवि सुन्दरदास का उस युग मे, जब अन्य कवियों द्वारा *नायिका भेद* एवं *दरबारी-सस्कृति* के साथ वैभव-विलास के बीच, नारी के नख-शिख के चित्र प्रस्तुत करना ध्येय था, इतनी सक्षम भाषिक क्षमता के साथ होना, अपने-आप में बडी महत्त्वपूर्ण घटना है। उन्होंने अपनी पुरजोर सामर्थ्य से सामन्ती शृंगारवाद का प्रतिरोध किया है। साथ ही, तत्कालीन-समाज मे व्याप्त रूढ़ि-पाखण्ड अथवा बाह्याचार एवं कर्मकाण्डों मे फॅसी जनता के लिए, अपनी वाणी एव आचरण द्वारा, आत्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया है। सुन्दर-वाणी मे निहित धर्म का स्वर, आचरण में समाहित बताया गया है। वे चेतना में व्याप्त राम-अल्लाह को जीवन-व्यवहार मे देखते रहे है—*सुन्दर सहजै चीन्हिया एकै राम अलाह।* अतः सन्त-काव्य परम्परा में, वाणी और विचार की प्रस्तुति में, सुन्दरदासजी अपने आप में अद्वितीय रचनाकार कह जा सकते है। उन्होंने ज्ञान-दर्शन परम्परा के बहुमूल्य चिन्तन को, मनुष्य-केन्द्रित करके, भाषा-काव्यों में प्रस्तुत किया है और वाणी द्वारा आत्मिक विकास करने मे बहुजन समाज की जो सेवा की है, वह सर्व-साधारण में सदा याद रखी जाएगी। साथ ही, भाषा-प्रवीण लोग, उनके विचार-चिन्तन को जन-भाषा में देखकर, सहज उत्कर्ष का अनुभव करते रहेंगे, ऐसा विश्वास है। कहा जा सकता है कि जो तत्त्वज्ञान केवल संस्कृतज्ञों के लिए सुलभ था, सुन्दरदास ने उसे जन-सामान्य के लिए, भाषा द्वारा रुचिर और सहज बनाकर, अपनी वाणी को सफल और सार्थक बनाया है।

पाँच

सुन्दरदास-वाणी

से

चयन

साखी

गुरु— जो कोउ विद्या देत है, सो विद्यागुरु होइ।
जीव ब्रह्म मेला करै, सुन्दर सद्गुरु सोइ ॥1॥

सुन्दर सद्गुरु बैद ज्यौ, पर उपकार करेइ।
जैसौ ही रोगी मिलै, तैसी औषध देइ ॥2॥

सुन्दर सद्गुरु है सही, सुन्दर सिक्षा दीन्ह।
सुन्दर बचन सुनाइ कैं, सुन्दर सुन्दर कीन्ह ॥3॥

सुमिरन— सुन्दर जन हरि कौं भजै, हरि जन कौ आधीन।
पुत्र न जीवै मात बिनु, माता सुत सौं लीन ॥4॥

जाही कौ सुमिरन करै, ह्वै ताही कौ रूप।
सुमिरन कीये ब्रह्म कैं, सुन्दर ह्वै चिद्रूप ॥5॥

बिरह— किये सिगार अनेक मैं, नष सिख भूषन साजि।
सुन्दर पिय रीझै नहीं, तौ सब कौनैं काजि ॥6॥

सुन्दर बिगसै बिरहनी, मन मैं भया उछाह।
फूल बिछाऊँ सेज री, आज पधारै नाह ॥7॥

पतिब्रत— पतिब्रत ही मैं योग है, पतिब्रत ही मैं जाग।
सुन्दर पतिब्रत राम सौं, वहै त्याग वैराग ॥8॥

सुन्दर जो बिभचारिनी, फरका दीयौ डारि।
लाज सरम वाकै नहीं, डौलै घर घर बारि ॥9॥

उपदेश— दीया की बतियाँ कहै, दीया किया न जाइ।
दीया करै सनेह करि, दीयें ज्योति दिषाइ ॥10॥

दीया राषै जतन सौं, दीये होइ प्रकास।
दीये पवन लगै अहं, दीये होइ बिनास ॥11॥

साईं आप दिया किया, दीया माहिं सनेह।
दीये दीये होत है, सुन्दर दीया देह ॥12॥

काल चितावनी— मेरे मन्दिर माल धन, मेरौ सकल कुटुंब।
सुन्दर ज्यौं कौ त्यौं रहै, काल दियौ जब बंब ॥13॥

काल ग्रसै आकार कौ, जामै सकल उपाधि।
निराकार निर्लेप है, सुन्दर तहां न ब्याधि ॥14॥

सुन्दर काल अखंड है, तिमिर रह्यौ ज्यौं छाइ।
ज्ञान भान प्रगटै जबहिं, दोन्यूं जांहिं बिलाइ ॥15॥

नारी-पुरुष— नारी बोलै आकरी, तब दुख पावै नाह।
श्लेष— सुन्दर बोलै मधुर मुख, तब सुख सीर प्रवाह ॥16॥

नारी मैं बल पुरुष कौ, पुरुष भयौ बसि नारि।
अपनौ बल समझै नही, बैठौ सर्बस हारि ॥17॥

सुन्दर नारी पुरुष की प्रीति परस्पर जांनि।
तब तैं संग तज्यौ नहीं, जब तैं पकरी पांनि ॥18॥

अधीर्य-उरांहना— सुन्दर प्रभुजी पेट यह, राषै कछू न मांन।
बन मैं बैठे जाइकैं, उठि भागै मध्यांन ॥19॥

सुन्दर प्रभुजी पेट बसि, देवी देव अपार।
दोष लगावै और कौं, चाहै एक अहार ॥20॥

सुन्दर प्रभुजी पेट कौं, दूधाधारी होइ।
पाषंड करहिं अनेक बिधि, षाहिं सकल रस गोइ ॥21॥

विश्वास— सुन्दर समुझि बिचारि करि, है प्रभु पूरनहार।
तेरौ रिजक न मेटि है, जानत क्यौं न गँवार ॥22॥

सुन्दर सब कौं देत है, चंचु सँवानी चौंनि।
तेरै तृष्णा अति बढ़ी, भरि भरि ल्यावत गौंनि ॥23॥

सुन्दर जाकौं जो रच्चौ, सोई पहुँचै आइ।
कीरी कौं कन देत है, हाथी मन भरि षाइ ॥24॥

दुष्ट— ब्याघ्र करै ज्यौं लुरषरी, कूकर आगैं आइ।
कूकर देषत ही रहै, बाघ पकरि ले लाइ ॥25॥

सुन्दर काहू दुष्ट कौं, भूलि न धीजहु बीर।
नीचै आगि लगाइ करि, ऊपर छिरकै नीर ॥26॥

जो कोउ मारै बान भरि, सुन्दर कछु दुख नांहिं।
दुर्जन मारै बचन सौं, सालतु है उर माहिं ॥27॥

बचन बिबेक—

सुन्दर वाही वचन है, जा महि कछू बिबेक।
नातरु घेरा मैं पर्‌यौ, बोलत मानौ भेक ॥28॥

जा बाणी हरि कौं लिये, सुन्दर वाही उक्त।
तुक अरु छंद सबै मिलैं, होई अर्थ संयुक्त ॥29॥

सूरज के आगै कहा करै जींगणा जोति।
सुन्दर हीरा लाल घर, ताहि दिखावै पोति ॥30॥

सूरातन—

घर मैं सब कोइ बंकुडा, मारहिं गाल अनेक।
सुन्दर रण मैं ठाहरै, सूरबीर को एक ॥31॥

सीस उतारै हाथ करि, संक न आनै कोइ।
ऐसे मॅहगे मोल का, सुन्दर हरि रस होइ ॥32॥

सुन्दर तन मन आपनौ, आवै प्रभु कै काम।
रण मै तै भाजै नहीं, करै न लौन हराम ॥33॥

स्वरूप— विस्मरण

जैसै मदिरा पान करि, होइ रह्या उनमत्त।
सुन्दर ऐसैं आपु कौं, भूल्यौ आतम तत्त ॥34॥

ज्यौं गुंजनि की ढेर करि, मरकट मानै आगि।
ऐसैं सुन्दर आप ही, रह्यौ देह सौ लागि ॥35॥

काहू सौं बांभन कहै, काहू सौं चंडाल।
सुन्दर ऐसौ भ्रम भयौ, यौं ही मारै गाल ॥36॥

आत्मानुभव—

मुख तैं कह्यौ न जात है, अनुभव कौ आनन्द।
सुन्दर संमुझै आप कौं, जहाँ न कोई द्वंद ॥37॥

है सो सुन्दर है सदा, नहीं सु सुन्दर नांहिं।
नहीं सु परगट देषिये, है सो लहिये मांहिं ॥38॥

बिरवा बुद्धि गुलाब है, शब्द सु फूल प्रकास।
सुन्दर आतम ज्ञान कौ, अनुभौ मध्य सुबास ॥39॥

अद्वैत ज्ञान—

घर कहिये सब भूमि पर, भूमि घरन मैं होइ।
सुन्दर एकै देषिये, कहन सुनन कौ दोइ ॥40॥

सुन्दर घर सब गॉव मै, गॉव सकल घर मांहि।
घर अरु गॉव बिचारिये, तौ कछु दूजा नाहि ॥41॥

भयौ सरकरा इक्षु रस, ब्यापि मिठाई माहिं।
सुन्दर ब्रह्म सु जगत है, जगत ब्रह्म द्वै नाहिं ॥42॥

जैसे बुनत महीर मै, फुलरी परती जांहिं।
ऐसै सुन्दर ब्रह्म तैं, जगत भिन्न कछु नाहिं ॥43॥

जगत कहे तैं जगत है, सुन्दर रूप अनेक।
ब्रह्म कहे तै ब्रह्म है, बस्तु बिचारें एक ॥44॥

ज्ञानी— ज्ञानी शुभ कर्मन करै, लोक आचरन हेत।
बहुत भांति के शब्द कहि, सुन्दर सिष्या देत ॥45॥

अंत्यज ब्राह्मण आदि दै, दार मथै जो कोइ।
सुन्दर भेद कछू नहीं प्रगट हुतासन होइ ॥46॥

अंत्यज कै जल कुभ मैं, ब्राह्मन कलस मझार।
सुन्दर सूर प्रकासिया, दुहुंवन मैं इकसार ॥47॥

अन्योऽन्य भेद— क्रिया करत है बहु बिधि, ज्ञान दृष्टि जो नांहिं।
अंध चल्यौ मग जात है, परै कूप के माहि ॥48॥

ज्ञान दृष्टि करि निपुनि है, क्रिया नहीं पग दौर।
अग्नि लगै जब सदन मैं, पंगु जरै वहि ठौर ॥49॥

ज्ञान क्रिया दोऊ मिलहिं, तब ही होइ उबार।
यथा अंध के कंध पर, पंगु होइ असवार ॥50॥

बचन जाल उरझैं सबै, सुरझावैं गुरुदेव।
नेति नेति करते रहैं, सुन्दर अलष अभेव ॥51॥

सवैया-कवित्त

इन्दव— मौज करी गुरुदेव दया करि, शब्द सुनाइ कह्यौ हरि नेरौ।
ज्यौं रवि कैं प्रगट्यौ निशि जात, सु दूरि किया भ्रम भांनि अंधेरौ ॥
काइक बाइक मानसहू करि है गुरुदेवहि बदन मेरौ।
सुन्दरदास कहै कर जोरि, जु दादूदयाल कौ हूं नित चेरौ ॥1॥

कौन कुबुद्धि भई घट अतर, तूं अपनै प्रभु सों मन चोरै।
भूलि गयौ बिषया सुख में सठ, लालच लागि रह्यौ अति थोरै।
ज्यौं कोउ कचन छार मिलावत, लै कर पाथर सौं नग फोरै।
सुन्दर या नर देह अमोलिक, तीर लगी नवका कत बोरै ॥
॥उपदेश. ॥2॥

भूप नचावत रंकहि राजहि, भूप नचाइ कै बिश्व विगोई।
भूष नचावत इन्द्र सुरासुर, और अनेक जहाँ लग जोई ॥
भूष नचावत है अध ऊरध, तीनहु लोक गनै कहा कोई।
सुन्दर जाइ तहा दुख ही दुख, ज्ञान विना न कहूं सुख होई ॥तृष्णा. ॥3॥

ज्यौ कोउ कोस कट्यौ नहिं मारग, तेल कलै घर मैं पसु जोये।
ज्यौ बनिया गयौ बीस कै तीस कौं, बीसहु मैं दसहूँ नहिं होये ॥
ज्यौं कोउ चौबे छबे कौ चल्यौ, पुनि होइ दुबे दुइ गाँठे के षोये।
तैसेहि सुन्दर और क्रिया सब, राम बिना निहचै नर रोये ॥चाणक. ॥4॥

प्रीति प्रचड लगै परब्रह्महि और सबै कछु लागत फीकौ।
शुद्ध हृदै मति होइ सु निर्मल, द्वैत प्रभाव मिटै सब जी कौ ॥
गोष्टि रु ज्ञान अनंत चलै तहँ, सुन्दर जैसैं प्रवाह नदी कौ।
ताहि तैं जानि करै निसि बासर, साधु कौ संग सदा अति नीकौ ॥साधु. ॥5॥

आपुहि चेतनि ब्रह्म अखंडित, सो भ्रम तैं कछु अन्य परेषै।
ढूँढत ताहि फिरै जित ही तित, साधत योग बनावत भेषै ॥
औरनु कष्ट करै अतिसै करि, प्रत्यक आतम तत्व न पेषै।
सुन्दर भूलि गयौ निज रूपहि, है कर कंकण दर्पण देषै ॥स्वरूप. ॥6॥

ब्रह्म निरंतर व्यापक अग्नि, अरूप अखडित है सब मांहीं।
ईश्वर पावक रासि प्रचंड जु, संग उपाधि लिये वरतांहीं ॥
जीव अनंत मसाल चिराग सु, दीप पतंग अनेक दिषांहीं।
सुन्दर द्वैत उपाधि मिटै जब, ईश्वर जीव जुदै कछु नाहीं ॥साख्य ॥7॥

ज्यौं नर पावक लोह तपावत, पावक लोह मिले सु दिषांहीं।
चोट अनेक परै घन की, सिर लोह बधै कछु पावक नाहीं ॥
पावक लीन भयौ अपनै घर, सीतल लोह भयौ तब ताही।
त्यौं यह आतम देह निरन्तर, सुन्दर भिन्न रहै मिलि माहीं ॥सांख्य. ॥8॥

कर्म सुभासुभ की रजनी, पुनि अर्द्ध तमोमय अर्द्ध उजारी।
भक्ति सु तौ यह है अरुणोदय, अंत निसा दिन सधि बिचारी ॥
ज्ञान सु भान सदोदित बासर, बेद पुरान कहै जु पुकारी।
सुन्दर तीन प्रभाव बषानत, यौं निहचै समुझे बिधि सारी ॥विचार. ॥9॥

प्रीति की रीति नही कछु राषत, जाति न पांति नही कुल गारौ।
प्रेम कै नेम कहूं नहिं दीसत, लाज न कांनि लग्यौ सब षारौ ॥
लीन भयौ हरि सौं अभिअंतर, आठहु जाम रहै मतवारौ।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह, गोकुल गॉव कौ पैडौ ही न्यारौ ॥
॥प्रेम पराज्ञान. ॥10॥

आदि हुतौ सोइ अन्त रहै, पुनि मध्य कहा कछु और कहावै।
कारण कारय नाम धरे जुग, कारय कारण मांहि समावै ॥
कारय देषि भयौ बिचि बिभ्रम, कारण देषि बिभ्रम्म बिलावै।
सुन्दर या निश्चै अभिअंतर, द्वैत गये फिरि द्वैत न आवै ॥अद्वैत. ॥11॥

एकहि ब्रह्म रह्यौ भरपूर तौ दूसर कौंन बताव निहारौ।
जो कोउ जीव करै जु प्रमांन तौ, जीव कहा कुछ ब्रह्म तैं न्यारौ ॥
जो कहै जीव भयौ जगदीस ते तौ, रवि मांहि कहॉ कौ अंधारौ।
सुन्दर मौन गही यह जानि कै, कौंनहु भांति न होत न्रिधारौ ॥
॥आश्चर्य. ॥12॥

हिक्क लाहोर दा नीर भी उत्तम हिक्क लाहौर दा बाग सिराहे।
हिक्क लाहोर दा चीर भी उत्तम हिक्क लाहोर दा मेवा सिराहे ॥
हिक्क लाहोर दे हैं बिरही जन हिक्क लाहौर दे सेवग भाये।
कितइक बात भली लाहोर दी ताहि तें सुन्दर देषनें आये ॥देशाटन. ॥13॥

मनहर— सुख मानै दुख मानै संपति बिपति मानै,
हर्ष मानै शोक मानै मानै रंक धन है।
घटि मानै बढि माने शुभहूं अशुभ मानै,
लाभ माने हानि मानै याही तें कृपन है ॥
पाप मानै पुन्य मानै उत्तम मध्यम मानै,
नीच मानै ऊँच मानै मानै मेरौ तन है।
स्वरग नरक मानै बन्ध मानै मोक्ष मानै,
सुन्दर सकल मानै ताते नाउं मन है ॥मन. ॥14॥

बोलिये तौ तब जब बोलिवे की सुधि होइ,
न तौ मुख मौंन करि चुप होइ रहिये।
जोरिये ऊ जब जब जोरिबौऊ जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिये ॥
गाइये ऊ तब जब गाइवे कौ कंठ होइ,
श्रवण कै सुनत ही मन जाइ गहिये।
तुक भग छद भंग अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं बोलिये ॥
॥ बचन बिबेक. ॥15॥

नीच ऊंच बुरौ भलौ सज्जन दुर्जन पुनि,
पंडित मूरष शत्रु मित्र रक राव है।
मान अपमान पुन्य पाप सुख दुख दोऊ,
स्वरग नरक बंध मोक्षहू कौ चाव है ॥
देवता असुर भूत प्रेत कीट कुंजर ऊ,
पशु अरु पक्षी स्वान सूकर बिलाव है।
सुन्दर कहत यह एकई अनेक रूप,
जोई कछु देषिये सु आपुनौ ही भाव है ॥
॥अपने भाव. ॥16॥

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और,
चित्त सौ न चन्दन सनेह सौ न सेहरा।
हृदै सौ न आसन सहज सौ न सिंघासन,
भाव सी न सौंज और शून्य सौ न गेहरा ॥
सील सौ सनान नाहि ध्यान सौ न धूप और,
ज्ञान सौ न दीपक अज्ञान तम के हरा।
मन सी न माला कोऊ सोहं सौ न जाप और,
आतमा सौ देव नाहिं, देह सौ न देहरा ॥
॥सांख्य. ॥17॥

जैसै एक लोह के हथ्यार नाना बिधि कीये,
आदि अन्त मध्य एक लोहई प्रवानिये।
जैसै एक कंचन के भूषन अनेक भये,
आदि अन्त मध्य एक कचनई जानिये ॥

जैसें एक मैंन के सॅवारे नर हाथी हय,
आदि अन्त मध्य एक मैंने ही बषानिये।
तैसै ही सुन्दर यह जगत सु ब्रह्ममय,
ब्रह्म सो जगतमय निश्चै करि मानिये ॥
॥अद्वैत ज्ञान. ॥18॥

पद

राग कानड़ौ- ज्ञान तहां जहां द्वंद्व न कोई।
बाद बिबाद नहीं काहू सौ, गरक ज्ञान मैं ज्ञानी सोई ॥टेक ॥
भेदाभेद दृष्टि नही जाकै, हर्ष शोक उपजै नहिं दोई।
समता भाव भयौ उर अंतर, सार लियौ सब ग्रंथ बिलोई ॥
स्वर्ग नरक संशय कछु नांही, मन की सकल बासना धोई।
बाही कै तुम अनुभव जानौ, सुन्दर उहै ब्रह्ममय होई ॥1॥

राग बिहागड़ौ— मन मेरे उलटि आपु कौं जानि।
काहे कौं उठि चहुं दिसि धावै, कौंन परी यह बांनि ॥टेक ॥
सदगुरु ठौर बताई तेरी, सहज सुंनि पहिचांनि।
तहा गये तोहि काल न ब्यापै, होइ न कबहूं हांनि ॥
तूं ही सकल बियापी कहिये, समुझि देषि भ्रम भांनि।
तूं ही जीव शीव पुनि तूं ही, तूं ही सुन्दर मांनि ॥2॥

राग केदारौ— देषहु एक है गोबिंद।
द्वैत भावहि दूरि करिये, होइ तब आनन्द ॥टेक ॥
आदि ब्रह्मा अन्त कीटहु दूसरौ नहि कोइ।
जो तरंग बिचारिये तौ वहै एकै तोइ ॥
पंच तत्व रु तीन गुन कौ, कहत है ससार।
तऊ दूजौ नाहिं एकहि बीज कौ बिस्तार ॥
अतत निरसन कीजिये तौ द्वैत नहिं ठहराइ।
नहिं नहीं करते रहै तहां बचनहूं नहिं जाइ ॥
हरि जगत मैं जगत हरि मैं कहत है यों बेद।
नाम सुन्दर धर्यौ जबही, भयौ तब ही भेद ॥3॥

राग भैरूं— ऐसा ब्रह्म अखंडित भाई। बार पार जान्यौ नहिं जाई ॥टेक ॥
अनल पंषि उडि चढि अकास। थकित भई कहुं छोर न तास ॥

लौन पुत्तरी थाघे दरिया। जात जात ता भीतरि गरिया ॥
अति अगाध गति कौन प्रवानैं। हेरत हेरत सबै हिरानै ॥
कहि कहि संत सबै कोउ हारा। अब सुन्दर का कहै बिचारा ॥4॥

राग देवगंधार— पद मै निर्गुन पद पहिचाना।
पद कौ अर्थ बिचारै कोई, पावै पद निर्बाना ॥टेक॥
पद बिन चलै जहाँ पद नाही, पद है सकल निधांना।
ज्यौ हस्ती के पद मै सब पद, काहू पद न भुलाना ॥
देव इन्द्र बिधि शिव बैकुंठहिं, ये पद ग्रंथनि गांना।
जीवत पद सौ परचै नाही, मूये पद किन जाना ॥
पद प्रसिद्ध पूरण अविनासी, पद अद्वैत बषांना।
पद है अटल अमर पद कहिये, पद आनन्द न छांना ॥
पद षोजे तें सब पद बिसरै, बिसरै ज्ञान रु ध्यांना।
पद कौ तात्पर्य सो पावै, सुन्दर पदहिं समांना ॥5॥

अब हम जान्यौ सब मैं साषी।
साषि पुरातन सुनी आगिली, देह भिन्न करि नाषी ॥टेक ॥
साषी सनकादिक अरु नारद, दत्त कपिल मुनि आषी।
अष्टाबक्र बसिष्ट व्यास-सुत, उन प्रसिद्ध यह भाषी ॥
साषी रामानन्द गुसांई, नाम कबीरहि राषी।
साषी संत सकल ही कहिये, गुरु दादू यह दाषी ॥
साषी कोऊ और जानते, मन मैं यह अभिलाषी।
अब तौ साषी भये आपुही, सुन्दर अनुभव चाषी ॥6॥

राग बिलावल— सब कै आहि अन्न मैं प्रांन।
बात बनाइ कहौ कोऊ केती, नाचि कूदि कै तूटत तांन ॥टेक ॥
पंडित गुनी सूर कवि दाता, जो कोउ और कहावत जान।
जठरा अग्नि प्रगट होइ जबही, तबही बिसर जाइ सब ज्ञांन ॥
मीर मलिक उमराव छत्रपति, औरउ कहियत राजा रांन।
जद्यपि सकल संपदा घर मैं, तद्यपि मुख देषियत कुमिलान ॥
आसन मारि रहे बन मांही, तेऊ उठत होत मध्यांन।
सुन्दर ऐसी क्षुधा पापिनी, रहै नहीं काहू कौ मांन ॥7॥

राग सोरठ— सब कोऊ भूलि रहे इहि बाजी।
आपु आपुने अहंकार मैं, पातिसाहि कहा पाजी ॥टेक ॥
पातिसाहि कै बिभौ बहुत बिधि, षात मिठाई ताजी।

पेट पयादौ भरत आपनौ, जीमत रोटी भाजी ॥
पडित भूले बेद पाठ करि, पढ़ि कुरान कौ काजी।
वै पूरब दिसि करै दंडवत, वै पच्छिमहि निवाजी ॥
तीरथिया तीरथ कौ दौडे, हज कौं दौडे हाजी।
अंतरगति कौं षोजै नाही, भ्रमणैं ही सौं राजी ॥
अपने अपने मद के मांते, लषै न फूटी साजी।
सुन्दर तिनहि कहा अब कहिये, जिनकै भई दुराजी ॥8॥

राग मलार— देषौ भाई, आज भलौ दिन लागत।
बरिषा रितु कौ आगम आयौ, बैठि मलारहि रागत ॥टेक ॥
राम नाम के बादल उनये, घोरि घोरि रस पागत।
तन मन मांहिं भई सीतलता, गये बिकार जुदागत ॥
जा कारनि हम फिरत बियोगी, निसि दिनि उठि उठि जागत।
सुन्दरदास दयाल भये प्रभु, सोई दियौ जोइ मागत ॥9॥

राग काफी— महबूब सलौनैं मैं तुझ काज दिवाना।
आसिक कौ दीदार दै, मेरा देषि दरद सुबिहाना ॥टेक॥
इसक आगि अति परजली, अब जारत तन मन प्राना।
निस दिन नीद न आवई, इन नैंन तुम्हारौ ध्याना ॥
यह दुनिया सब फीकी लागी, अरु फीका जुमल जिहाना।
सुन्दर तेरे नूर कौ कब देषैगा रहिमाना ॥10॥

सन्दर्भ ग्रन्थ

ग्रन्थ / लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्रकाशन-वर्ष
देव और उनकी कविता	
डॉ नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1950
पल्लव	
सुमित्रानन्दन पंत	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण 1958
मध्यकालीन धर्म-साधना	
आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी	प्रका. साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृ. सस्क. सन् 1962 ई.
सन्त काव्य संग्रह	
सपा. आ.परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल, इलाहाबाद, तृ. संस्करण 1967
सन्त साहित्य और समाज	
डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र	आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, संस्करण 1994
सन्त बानी संग्रह (भाग-1,2) :	
संग्रहकर्ता प्रकाशक	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् 1922
सुन्दर ग्रन्थावली (प्रथम-द्वितीय खण्ड)	
संपा. हरिनारायण शर्मा	राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, प्रथम सस्करण सन् 1936 ई.
सुन्दर ग्रन्थावली	
संपा. स्वामी नारायण दास	श्री दादूदयाल महासभा, जयपुर (राजस्थान) प्रथम सस्करण स 2046 वि.

सुन्दर ग्रन्थावली (भाग एक-दो)

संपा. डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — किताब घर, दिल्ली, प्रथम सस्करण : 1992 ई.

सुन्दर पदावली

संपा. डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1992

सुन्दर साखी ग्रन्थ

संपा. डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1993

सुन्दर सवैया ग्रन्थ

संपा. डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 1993

सुन्दर विलास

संपा. किशोरीलाल गुप्त — नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, संस्करण 1966 ई.

सुन्दर सार

संपा. हरिनारायण पुरोहित — इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1918

सुन्दर दर्शन

डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित — किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण 1953

सुन्दरदास और उनका काव्य

डॉ. कृष्ण कुमार कौशिक — साहित्य-मन्दिर, दिल्ली, संस्करण सन् 1995

हिन्दी साहित्य का इतिहास

आ. रामचन्द्र शुक्ल — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (चतु.)

संपा परशुराम चतुर्वेदी — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण सं. 2025 वि.

उलटवॉसी शैली और सन्त कबीर

डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — अलंकार प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 1982

हिन्दी सन्तों का उलटवॉसी साहित्य

डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र — आर्य बुक डिपो, दिल्ली, संस्करण सन् 1969

खण्डेलवाल हितैषी (-पत्रिका) — अंक 5-6, वर्ष 7 सन् 1931 ई.